वेद पढ़ो पढ़ाओ
वेदसुधा
आर्यों का परमधर्म
और
सुनो सुनाओ
वेद सुधा का पान करें हम, जीवन का निर्माण करें हम

ओ३म्
"असतो मा सद्गमय—तमसो मा ज्योतिर्गमय—मृत्योर्मामृतं गमय"
"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"
"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन का षष्ठ पुष्प"

वेद सुधा

भाग—२

(वेद मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या)

लेखक—

राम प्रसाद वेदालंकार
(संगढ़ विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत)
रीडर एवं अध्यक्ष वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पता—

राम प्रसाद वेदालंकार
कर्म कुटीर, आर्यनगर, ज्वालापुर
जि० सहारनपुर (उ० प्र०) पिन—२४९४०७

प्रकाशक—

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन"

द्वि० संस्करण
४००० प्रतियाँ

दयानन्दाब्द

सम्वत् २०३८
मई १९८१

आप का दान—श्रद्धा साहित्य का ज्ञान
मूल्य— पढ़ना—पढ़ाना, सुनना—सुनाना

विषय सूची

मूल्य—"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" के सरल सुबोध रूप में प्रकाशित होने वाला वैदिक साहित्य दानी महानुभावों के दान से प्रकाशित होता है और सुपात्रों को प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना ही इस का मूल्य है।

जो महानुभाव इस सरल सुबोध वैदिक साहित्य को उपयोगी समझ कर मंगवाना चाहें वा इसमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करना चाहें वे कृपया लेखक के पते पर पत्र व्यवहार करें। न्यून से न्यून १० रुपये तक की राशि किसी एक पुस्तक की दान सूची में प्रकाशित की जायेगी, शेष फुटकर दान के रूप में।

श्रद्धा साहित्य प्रकाशन से प्रकाशित साहित्य का वेचना वर्जित है।

45

भूमिका

मैं (लेखक) ८–२–७८ को सर्वोदय नगर, कानपुर पूज्या वहिन स्वदेश धवन जी के यहाँ उनके निमन्त्रण पर यज्ञार्थ गया था। वहाँ १०–१२–७८ को यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। वे प्रतिवर्ष जहां यज्ञ की पूर्णाहुति पर यज्ञ शेष का प्रसाद रूप में वितरण करती रहती हैं, वहाँ स्थायी प्रसाद के रूप में उत्तोमत्तम पुस्तकें मंगवा कर भी वितरण करती रहती हैं। उसी शृङ्खला में उन्होंने अपने आगे आने वाले १०० वें यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णहुति के अवसर पर इस यज्ञशेष के साथ–साथ स्थायी प्रसाद के रूप में एक्र सरल–सुबोध वैदिक साहित्य की कोई पुस्तक भी बाँटने का निश्चय किया। तदनुसार उन्होंने मुझे पत्र लिखा– "भाई जी ! आप अपने वेदोपदेशों को यदि पुस्तक का रूप दे कर प्रकाशित कर दें तो मैं (स्वदेश ध्वन) अपने उन बहिन–भाईयों तक भी यज्ञ प्रसाद के रूप में आपकी वाणी पहुँचा सकूँगी जो अब तक आप को नहीं सुन सके हैं वा कई सुन कर भी आप को पुनः पुनः सुनना चाहते हैं······।" साथ ही उन्होंने इस शुभ कार्य के लिये यथाशक्ति सहयोग प्रदान करने का भी लिखा। सो पूज्या बहिन स्वदेश धवन जी की ऐसी उत्तम भावना का ही परिणाम समझिये कि मैंने "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" का यह षष्ठ पुष्प वेद सुधा, भाग–२" लिख कर प्रकाशित किया। आज जहाँ 'वेद सुधा, भाग–१ समाप्त हो गया वहाँ यह "वेद सुधा, भाग–२" भी समाप्त हो गया पर फिर भी कई महानुभावों के पत्रों द्वारा पुस्तकें मंगवाने एवं घर पर लेने आने को देख कर पुनः श्रद्धा साहित्य की ओर से वेद सुधा, भाग–१ के साथ–साथ 'वेद सुधा, भाग–२' को भी प्रकाशित किया गया। यदि स्वाध्याय प्रेमियों को इस प्रकार इस "वेद सुधा" के पान से कुछ लाभ होता रहा तो लेखक अपनी लेखनी को सार्थक समझेगा।

विनीत–

राम प्रसाद वेदालंकार

समर्पण

जिस परमेश्वर की अपार कृपा एवं पूज्य गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञानप्रसाद एवं आशीर्वाद से यह "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" के इस षष्ठ पुष्प "वेदसुधा, भाग–२" का द्वितीय संस्करण मैं आप के कर कमलों तक पहुँचा सका, उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्पप्रयास समर्पित है।

निवास–
राम प्रसाद वेदालंकार
कर्मकुटीर, आर्य नगर
(समीप आर्यवानप्रस्थाश्रम)
ज्वालापुर (सहारनपुर) उ०प्र०

विनीत–
राम प्रसाद वेदालंकार
रीडर एवं अध्यक्ष, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

प्रीति आर्या

तू उस की ही स्तुति कर !

तमुष्टुहि[1] यो अन्त सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ।। अथर्व० ६.१.२ ।।

अन्वयः–यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः (अस्ति) तं युवानं अद्रोघवाचं सुशेवम् उ स्तुहि ।

अन्वयार्थः (यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः) जो इस संसार समुद्र वा इस हृदय समुद्र के भीतर वर्तमान हुआ–हुआ सत्य की प्रेरणा करने वाला है (युवानं अद्रोघवाचं सुशेवं, तम् उ स्तुहि) ऐसे सदा युवा, द्रोहरहित उत्तम वाणी का उपदेश करने वाले, सुसुखतम उस सर्वव्यापक परमेश्वर की ही तू स्तुति कर ।

हे मानव ! यदि तू अथर्वा[4] बनना चाहता है, निश्चल चित्त-वृत्ति वाला उत्तम योगी बनना चाहता है तो जो इस विशाल संसार समुद्र में विराजमान है वा इस हृदय समुद्र के भीतर विद्यमान है और सदा सबको सत्य की प्रेरणा करता रहता है, ऐसे बाल्य एवं वार्धक्य से रहित सदा युवा रहने वाले, सदा सशक्त एवं कर्मठ रहने

---

१. ऋषिः–अथर्वा । देवता–सविता । छन्दः–पिपीलिका मध्या पुरोष्णिक् ।
२. सूनुः–षु प्रेरणे (तुदा०) सुवति प्रेरयतीति सूनुः ।
३. सुशेवम्–सुशेवः–सुसुखतमः (निरु० ३.१) "शेवः सुखनाम" (निघं० ३.७) ।
४. अथर्वा–थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । थर्वति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः ।

वाले, सदा उत्तम सुखों के प्रदान करने वाले वा सुख से सेवन करने योग्य, उस सु–सुखतम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरक परमेश्वर की ही तू स्तुति कर।

हे मानव ! यदि तू ऊँचा उठना चाहता है,जीवन में कुछ आगे बढ़ना चाहता है, अपनी वृत्तियों को एकाग्र करना चाहता है, अपनी वृत्तियों को स्थिर करना चाहता है, अपने जीवन को अहिंसक, शान्त और तृप्त करना चाहता है, तो तू (तम् उ स्तुंहि) उस को ही भज, उसको ही गा, उसका ही स्तवन कर, उसका ही श्रद्धा-भक्ति से गुणगान कर, उसकी ही दृढ़ निश्चय पूर्वक उपासना कर।

तू उसका भजन कर, स्तुति कर, पर जैसे भाट किसी राजा वा धनी के धन–वैभव पर मुग्ध होकर उसी धन–वैभव आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से उसकी प्रशंसा करता है, उसका गुणगान करता है, वैसे तू उस प्रभु के धन–वैभव पर दृष्टि रखकर, हृदय में उसकी लालसा रख कर उसका गुणगान न कर, प्रत्युत तू तो उस प्रभु के गुण, कर्म और स्वभावों पर मुग्ध होकर, विभोर होकर ऐसे उस को गा कि उसके गुण कर्म स्वभाव तेरे जीवन में सहज ही घर कर जायें। यह बात सदा स्मरण रख कि भाट के लिये अपने स्तुत्यव्यक्ति का धन मुख्य होता है जबकि भक्त के लिये अपने भजनीय भगवान् के गुण। भाट और भक्त की स्तुति में यही एक महान् अन्तर होता है।

(तम्[5] उ स्तुहि) तू उस ही को गा ? प्रश्न होता है, किस को गाऊँ ? तो इस का उत्तर है—

'तम्' (तनुते विस्तृतो भवतीति तद् सः–तम्) जो जगत्

---

५. 'तम्' सर्वनाम होने से जहाँ इस का अर्थ हुआ "उसको"

के कण–कण में फैला हुआ है, जो कण–कण में समाया हुआ है, अर्थात् जो व्यापक है, जो सर्वव्यापक है, तू उसको गा, तू उसको भज।

गुरुनानक जी का भी कहना यही है—

इको सिमरिये नानक जो जल थल रिहा समाय।
दूजा काहे सिमरिये जो जम्मे[6] ते मर जाय॥

ऐसे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना से ही तेरा कल्याण होगा।

परस्पर में दो व्यक्ति लड़ रहे थे और लड़ते-लड़ते यह कह रहे थे, कि–"चल मन्दिर में, चल गुरुद्वारे में, चल मस्जिद में, चल गिरजे में और कसम खा यदि ऐसा है तो"–ऐसे व्यक्तियों के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे परमेश्वर कहीं स्थान विशेष में ही रहता हो। पर अगर ऐसे लोग जो परमेश्वर को एकदेशी अर्थात् मन्दिर, गुरुद्वारे, मस्जिद वा गिरजे घर में ही विराजमान मानकर चलते हैं, तो फिर यह निश्चय है कि वे कभी भी पवित्र नहीं रह सकते।

अतः प्रभु व्यापक है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है और सर्वदा सर्वत्र सब के शुभाशुभ कर्मों को देखता रहता है। इतना ही नहीं प्रत्येक शुभ कर्म में प्रवृत्त होने पर वह आनन्द, उत्साह और निर्भयता

वहाँ इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है "तनुते विस्तृतो भवतीति तद्" (उणा० १.१३२)। पुल्लिग में "सः" कर्ता में, और कर्म में तम् बना।

६. जम्मे–जन्मे–उत्पन्न होवे।

तथा प्रत्येक अशुभ कर्म में प्रवृत्त होने पर वह भय, शंका और लज्जा के रूप में अपने निर्देश, आदेश एवं उपदेश भी देता रहता है।

वेद में उसे "आपः" भी कहा गया है। अब यदि उसका यह 'आपः'[7] स्वरूप–सर्वव्यापकता का भाव तुम में स्थिर हो जाय और तुम उसे कण–कण में व्यापक मानकर अपना प्रत्येक कार्य करने लगो तो तुम्हारा सुख बढ़ सकता है, तब तुम्हें ऐसी तृप्ति मिल सकती है जैसी कि गर्मी में प्यासे व्यक्ति को शीतल जल मिल जाने से मिलती है। वह सर्वव्यापक प्रभु जब तुझे सुख देगा, शारीरिक बल देगा, मनोबल देगा, आत्मबल देगा, तब तू महान् बन जायेगा, पूजनीय बन जायेगा, जीवन संग्रामों में सर्वत्र स्थिर हो जायेगा, दुःख–सुखों में सम हो जायेगा। इतना ही नहीं तू अपने ज्ञान और व्यवहारों से दूसरो को भी तब उपदेश दे–दे कर महान् बनायेगा और अन्त में प्रभु दर्शन का भी अधिकारी हो जायेगा।

प्रभु की सर्वव्यापकता का अथर्ववेद में भी बड़ा ही मनोरम चित्रण किया गया है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं प्रति चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अथर्व० ४.१६.२ ॥

जो खड़ा होता है वा चलता है और जो ठगता है, जो गुप्त व्यवहार करता है या प्रकट व्यवहार करता है तथा दो मनुष्य मिल कर एक साथ बैठ कर जो कुछ मन्त्रणा करते हैं–विचार विमर्ष

---

७. आपः–आप्लृ व्याप्तौ। आप्नोति व्याप्नोति सर्वंजगदिति–आपः परमेश्वरः

करते हैं, यह सोचकर कि हमारी बात कोई तीसरा नहीं जान रहा है, तो उन्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि राजा वरुण–सर्वव्यापक प्रभु उन दोनों में भी तृतीय बन कर उनकी सब बातों को जान रहा होता है। तात्पर्य यह है–कि कोई मनुष्य ठहरता हो वा चलता हो, कोई किसी को ठगता हो, कोई कहीं छिपकर कुछ करता हो वा प्रकट में कुछ करता हो या कोई दो मिल–बैठ कर परस्पर में विचार–विमर्ष कर रहे हों, तो इन सब को वह परमेश्वर सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ होने से जान रहा होता है। अतः कोई ऐसा कार्य नहीं जो हम उसकी दृष्टि से ओझल होकर कर सकें। वेद कहता है— हे मानव ! (तम् उ स्तुहि) तू उस सर्वत्र व्यापक हुए–हुए प्रभु की ही स्तुति कर, तू उसका ही स्मरण कर। तू उसका ऐसा स्मरण कर कि तू विभोर हो जाए। किसी कवि का कहना है–"वह भी क्या स्मरण हुआ जो स्मरण करते–करते तन में रोमाञ्च न हुआ, नयनों से प्रेम और श्रद्धा के आँसु न प्रवाहित हुए और हृदय उस आराध्य देव के वियोग में विह्वल न हुआ।"

यदि 'तम्' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ न लेकर इस को सर्वनाम के ही रूप में स्वीकार करें तो अर्थ यों होगा—

"तम् उ स्तुहि" तू उस को निश्चय से भज, विश्वासपूर्वक ही भज। प्रश्न होता है, किस को ? तो मन्त्र में ही इस का उत्तर दिया गया है—

(यः सिन्धौ अन्तः) जो इस संसार समुद्र में वा हृदय समुद्र में विराजमान् है, तू उसको गा। उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना कर। क्योंकि जो तुम्हारे इस हृदय समुद्र में नाना प्रकार की लहरें उठती हैं, तरंगे उठती हैं, जो नानाविध काम क्रोध लोभ आदि के

आवर्त बन जाते हैं और तब तू चञ्चल, अस्थिर और डावाँ-डोल हो जाता है, ऐसे उस हृदय समुद्र को निस्तरंग, स्थिर और शान्त करने के लिये यही एक मात्र सुन्दर उपाय है कि तू उस प्रभु को श्रद्धा भक्ति से भज जो कि तेरे हृदय में विद्यमान है।
मन्त्र में आगे कहा गया है—

(तम् उ स्तुहि, यः सत्यस्य सूनुः) तू उस का स्तवन कर, तू उसके भावविभोर होकर गीत गा, जो तेरे हृदय में विराजमान होकर सदा सर्वत्र तुझे सत्य की प्रेरणा करता रहता है-तुझे सन्मार्ग पर चलने का आदेश और उपदेश देता रहता है-सदा सत्य की सुन्दर ढंग से प्रशंसा कर-कर के उस पर तेरे लिये चलना सुलभ और सहज बनाता रहता है, तू उसको ही गा, तू उसको ही भज।

वह क्यों "सत्यस्य सूनुः" कहलाता है? इसलिए कि वह सत्य का प्रेरक है। वह सत्य की प्रेरणा क्यों देता है? इसलिए कि उसे सदा सत्य प्रिय लगता है। और असत्य अप्रिय लगता है, उसे सत्य-मार्ग सत्पथ प्रिय लगता है और असत्य मार्ग-असत्पथ अप्रिय लगता है। इसलिए वह सत्य की-सत्य मार्ग की-सत्पथ की प्रेरणा देता है और असत्य का-असत्य मार्ग-असत्पथ का निषेध ही करता है, तभी तो भक्त भी प्रभु से प्रार्थना करता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। यजु० १.५ ॥
असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय-
मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥
अग्ने नय सुपथा राय अस्मान् ·· । यजु० ४०.१६ ॥
मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
माऽन्तस्थुर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १०.५७.१) ॥

हे व्रतपति प्रकाशस्वरूप प्रभुवर ! मैं व्रत करता हूँ। उस व्रत को पालन करने में मैं समर्थ होऊँ। तेरी कृपा से मेरा वह व्रत सिद्ध हो-सफल हो। मेरा वह व्रत यह है कि मैं अनृत से पृथक् हट कर सत्य को प्राप्त करता वा करना चाहता हूँ।

भक्त पुनः प्रार्थना करता है--

प्रभुदेव ! मुझे असत् की ओर नहीं वरन् सत् की ओर ले चल, अन्धकार की ओर नहीं प्रत्युत प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु की ओर नहीं प्रत्युत अमरत्व की ओर ले चल।

वस्तुतः जो असत् है, असत् मार्ग है, वही अन्धकार का मार्ग है और वही मृत्यु का मार्ग है तथा जो सत् का मार्ग है, वही प्रकाश का-ज्योति का मार्ग है, वही अमरत्व का मार्ग है। इसलिये तो उपासक असत् को-असत् मार्ग को छोड़ कर सत् को-सन्मार्ग को अपनाता है।

अन्यत्र प्रभु से भक्त प्रार्थना करता है—

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! हमें ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये सुपथ से ले चल। क्योंकि साधक यह जानता है कि वास्तविक ऐश्वर्य की उपलब्धि तो सुपथ से ही सम्भव हो सकती है। अतः भक्त पुनः प्रार्थना करता है—

"मा प्रगाम पथो वयम्।" ऋग्वेद १०.५७,१।

हे जगत् सम्राट् परमेश्वर ! हम कभी पथ से विचलित न हों। अर्थात् हम कभी सुपथ से भटकें नहीं।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि जो भगवान् का नाम 'सत्यस्य-सूनुः' है उस का इतना विस्तृत और सुन्दर अर्थ है। क्योंकि जो वास्तव में सत्य है-वही सत् पथ है, वही सुपथ है, जो असत्य है, वही असत्पथ

है, वही दुष्पथ है। अब जो असत् है, असत् पथ है, वही अन्धकारमय पथ है, मृत्युमय पथ है, जो सत् पथ है, वही ज्योतिर्मय पथ है, वही अमरत्व का मार्ग है। इसी सत्पथ-सुपथ से ही मनुष्य को वास्तविक ऐश्वर्य उपलब्ध हो सकता है। असत् पथ से जो उपलब्ध होने वाला ऐश्वर्य होता है वह वास्तव में अनैश्वर्य होता है, क्योंकि उस से मनुष्य दूषित हो जाता है, पापी हो जाता है, अपवित्र हो जाता है और लोक में उसकी निन्दा होने लगती है। अतः वह वास्तविक ऐश्वर्य नहीं है। वास्तविक ऐश्वर्य तो वही है जो कि सत्पथ-सुपथ से ही उपलब्ध होता है, क्योंकि उससे मानव का विश्वास बढ़ता है, उससे मानव की साख बढ़ती है, और वह पवित्र रूप में सर्वत्रप्रसिद्ध होता है इत्यादि।

इसलिये वेद में प्रार्थना की गई कि-"हे प्रभुवर! हम अपने पथ से-शुभ पथ से कभी विचलित न हों।" यहाँ बताया है कि वह हमारा पथ-सत्पथ-शुभपथ क्या है? वह है यह यज्ञपथ। अतः हम पथ से-सत्पथ से अर्थात् यज्ञमय पथ से कभी विचलित न हों- कभी भटक न जायें।

सत्य प्रिय है, सरल है, ऋजु है, सर्वत्र वेद में यह प्रतिपादित है, अतः अपनाने योग्य है। शास्त्र में कहा गया है—"सत्यमेव जयते नानृतम्" सत्य की सदा विजय होती है, अनृत की नहीं।

"सत्येन पन्था विततो देवयानः" देवयान मार्ग सत्य से ही विस्तृत होता है-सत्य से ही खुलता है।

अश्वमेध सहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

अगर एक ओर तुला में सहस्रों अश्वमेध यज्ञों का पुण्य वा फल रख दिया जाय और दूसरी ओर सत्य, तो उनमें सत्य ही भारी

निकलेगा। इसलिए सत्य के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि— "नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्त्यनृतात् पातकं परम्"–सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई और गिराने वाला पातक-पाप नहीं। गान्धी जी तो सत्य पर सदा इतने मुग्ध रहे कि वे कहा करते थे कि–"जो सत्य है वही ईश्वर है। अतः सत्य को जो मानता है, वह ईश्वर को मानता है। सत्य के प्रति जो समर्पित होता है, वह मानो ईश्वर के प्रति समर्पित होता है।" जो सत्य इतना दिव्य है, जिसकी वेद शास्त्रों में इतनी महिमा गाई गई है, वह सत्य प्रभु को इतना प्यारा है कि वह सदा सबको इसकी ही प्रेरणा देता रहता है, अब जो इस प्रेरणा को सुन कर अपने हृदय को इस सत्य के प्रति समर्पित कर देता है उस पर प्रभु बहुत प्रसन्न होता है। "सत्यस्य सूनुः" का एक दूसरा सुन्दर अर्थ यह भी है कि वह सत्य का "सूनु" है, अर्थात् "सुष्ठुतया नौति स्तौतीति सूनुः" सत्य की अच्छी प्रकार से स्तुति–प्रशंसा करने वाला है, जैसे सत्य ऋजु है, सरल है, सुखद है, सुपरिणामी है और इसके विपरीत अनृत कुटिल है, कठिन है, कुपरिणामी है, उसकी निन्दा करता है। आगे उपर्युक्त मन्त्र में कहा गया है—

"तमु ष्टुहि"–"तम् उ स्तुहि," तू उस ही की स्तुति कर, प्रश्न होता है, किस की ? तो इस का उत्तर यह है–"तम् युवानम् उ स्तुहि" उस बाल्य–वार्धक्य रहित सदा युवा परमेश्वर की ही तू स्तुति कर। जो (यु मिश्रणामिश्रणयोः) निरन्तर अपनी न्याय व्यवस्था से सबके साथ अपने–अपने कार्यों के अनुकूल जाति, आयु और भोग का मिश्रण और अमिश्रण करता रहता है। अर्थात् जो न्यायपूर्वक सब को कर्मफल प्रदान करता रहता है, जैसे थोड़ी देर

पूर्व एक व्यक्ति राजा था, अब वह भिखारी बन गया, सशरीर होने से वह कुछ समय पूर्व सब भूमि, धन–वैभव का स्वामी था परन्तु अब वह मरने पर अपनी देह का भी स्वामी नहीं रहा, पुत्री, पुत्र, भवन मिल आदि का तो क्या कहना ! तो यह सब उस युवा परमेश्वर का ही खेल है जो न कभी बच्चा होता है और न कभी बूढ़ा होता है, अर्थात् स्वयं पराश्रय न रहकर सदा सबको अपने आश्रय में ही रखता है।

पुनः किस की स्तुति करू ?-"तम् अद्रोघवाचम् उ स्तुहि" जिसकी वाणी में तनिक भी द्रोह नहीं, ज़रा भी दूसरों को हानि पहुँचाने की झलक नहीं, ऐसे द्रोहरहित दिव्य वेदवाणी के प्रणेता की तू स्तुति कर, द्रोहरहित दिव्य प्रेरणारूपवाणी वाले दिव्यदेव की तू स्तुति कर, प्रशंसा कर, भजन कर। फिर आगे कहा —

"यः सुशेवः–तं सुशेवं–सुसुखतमम् उ स्तुहि" जो सुसुखतम सुखियों में सब से बढ़कर सुखी है, शान्ति वालों में सब से बढ़कर शान्ति वाला है, तृप्तों में सबसे बढ़कर तृप्त है, उस सुखतम, तृप्ततम, आनन्द के अनुपम धाम, आनन्द के दिव्य स्रोत सच्चिदानन्द प्रभु का तू गुणगान कर, भजन कर, पूजन कर, यही तुझे दुखों से तारेगा, भवसागर से पार उतारेगा और फिर जब तुम्हें अपना दिव्य प्रसाद प्रदान करेगा तो तब तू निहाल हो जायेगा और तब तेरी साध सार्थक हो जायेगी।

"प्रभो ! हमें ज्ञान दो, हमें काम दो.. "

ऋषिः–वसिष्ठः[1] । देवता-इन्द्रः । छन्दः-बृहती ।

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥
सा० २५९ । ऋ० ७.३२.२६ .

अन्वयः इन्द्र ! नः क्रतुम् आभर, यथा पिता पुत्रेभ्यः । पुरुहूत ! अस्मिन् यामनि नः शिक्ष । जीवाः ज्योतिः अशीमहि ।

अन्वयार्थः–(इन्द्र ! नः क्रतुम्[2] आभर) हे परमेश्वर ! हमारे लिये ज्ञान दो, प्रज्ञान दो, काम दो, यज्ञमय शुभ कार्य दो ऐसे (यथा पिता पुत्रेभ्यः) जैसे कि पिता पुत्रों के लिए देता है ।

(पुरुहूत ! अस्मिन् यामनि नः शिक्ष) हे बहुतों से पुकारे जाने वाले परमात्मन् ! इस जीवन में-इस संसार यात्रा में हमें शिक्षा दो, ताकि (जीवाः ज्योतिः अशीमहि) जीते हुए ही हम तेरी दिव्य ज्योतिः को पा सकें ।

हे इन्द्र ! हे परमेश्वर ! तू हमें ज्ञान दे, हमें प्रज्ञान दे, हमें सद्बुद्धि दे, तू हमें काम दे, हमें कामों में सब से उत्तम काम यज्ञ दे, ऐसे जैसे कि इस संसार में एक पिता अपने पुत्रों को ज्ञान देता है, प्रज्ञा–प्रज्ञान अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान देता है, सद्बुद्धि देता है । वह

---

१. वसिष्ठः–परमेश्वर में अत्यन्त बसने वाला उपासक ।
२. क्रतुम्–"क्रतुरिति प्रज्ञा नाम" (निघं० ३.९)
Knowledge or Wisdom
"क्रतुरिति कर्मनाम" (निघं २ १) Action
प्रज्ञा यज्ञो वा (उणा० १.७६)

उन्हें करने को कार्य देता है, कार्यों में भी श्रेष्ठतम् कार्य यज्ञकार्य–शुभ कर्म देता है ताकि वे भी अपने पिता के समान ज्ञानी बुद्धिमान् बन कर कर्म कर सकें, सत्कर्म कर सकें, यज्ञमय शुभ कर्म कर सकें।

हे बहुतों से बहुत प्रकार से बार–बार बुलाए जाने वाले जगदीश्वर! इस जीवन पथ में, इस गन्तव्य धर्म मार्ग में अथवा योग मार्ग में हमें शिक्षा दे, प्रेरणा दे, और ऐसी शिक्षा दे, ऐसी प्रेरणा दे कि हम जीते हुए ही अर्थात् इस वर्तमान जीवन में ही तेरी दिव्य ज्योतिः[३] को, तेरे दिव्य अध्यात्मप्रकाश को, तेरे दिव्य अमृत-आनन्द को प्राप्त कर सकें।

"इन्द्र! नः क्रतुं आभर यथा पिता पुत्रेभ्यः" हे परमेश्वर! हमें क्रतु दो, ज्ञान दो, प्रज्ञान दो अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान दो। इतना ही नहीं, हे प्रभुवर! तुम हमें ज्ञान के साथ–साथ क्रतु–काम दो और फिर क्रतु-कर्म भी देना है तो कर्मों में श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ दो, ऐसे जैसे कि एक पिता अपने बच्चों को पहले सद्बुद्धि देता है, फिर सत्कर्म करने की प्रेरणा करता है। बच्चा जहाँ सजग होता है वहाँ उसमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कुछ जानने की–समझने की इच्छा पैदा होती है ऐसे ही उसमें चिकीर्षा-कुछ न कुछ करने की इच्छा भी उत्पन्न होती है। वह इच्छा उस में इतनी तीव्र उत्पन्न होती है कि बहुत जल्दी ही मानो वह सब कुछ जान लेना–सब कुछ समझ लेना चाहता है, बहुत जल्दी ही वह सब कुछ कर डालना चाहता है। एक पिता जब अपने लगभग दो तीन वर्ष के बालक के समीप जाता है तो वह बालक निरन्तर प्रश्न करता रहता है। वह पूछता

---

३. ज्योरिमृतम्। श० १४.४.१ ३२॥

है–"पिता जी ! यह का (=क्या) है ?" उसके प्रथम प्रश्न का वह उत्तर दे नहीं पाता कि वह झट फिर पूछ बैठता है, वह का (=क्या) है ?" पिता कहता है, "बेटा वह चन्दा मामा है।" बच्चा फिर पूछता है, "पिता जी ! वह नीचे क्यों नहीं आता, ऊपर क्यों रहता है ?" इस का पिता अभी उत्तर दे नहीं पाता कि दिन में देखा हुआ बन्दर उसे याद आ जाता है और झट वह पूछने लगता लगता है, "पिता जी ! बन्दर कपड़े क्यों नही पहनता ?" इत्यादि। इसी प्रकार बच्चा जहाँ पग-पग पर सब कुछ जानना समझना चाहता है वहाँ वह कुछ करना भी चाहता है। माँ जहाँ दाल, चावल चुनना चाहती है, तो वह कहता है, "मैं भी दाल चुनूँगा, मै भी चावल चुनूंगा।" माँ जहाँ शाक काटना चाहती है तो वह भी शाक काटना चाहता है। यदि माँ कहती है कि चावल बेटी चुनेगी, शाक बेटी काटेगी, तो बच्चा कहता है, "माँ जी फिर मैं क्या करूंगा ?" फिर जब माँ उसको कोई न कोई कार्य बता देती है तो इससे उसे सन्तोष होता है, अन्यथा वह अपनी दीदी के हाथ से चावल छीनता है, यह कह कर कि-"मैं चुनूंगा" शाक और चाकू छीनता है यह कहते हुए कि-"मैं काटूंगा।" पिता कुछ काम करता है, जैसे पुस्तकें सम्भालता है तो बच्चा भी कहता है-"पिताजी ! मैं आपको पुस्तकें देता जाऊँगा आप रखते जाना" बेटी कहती है- "पिता जी ! मैं दूंगी और आप रखते जाना।" इसके अतिरिक्त भी बच्चा, आपको कुछ न कुछ नई जानकारी प्राप्त करता हुआ मिलेगा अथवा कुछ न कुछ करता हुआ ही मिलेगा और अगर उसे कुछ करने को नहीं मिलेगा तो फिर वह नल को खोलते हुए पानी को भरता और उड़ेलता हुआ मिलेगा या दियासलाई की डिब्बी को

खोलता और सब दियासलाईयाँ बिखेरता हुआ मिलेगा अथवा कुछ और ही तोड़ता–फोड़ता और जोड़ता हुआ मिलेगा, ईन्टों और रेते में घर बनाता और बिगाड़ता हुआ मिलेगा, पैन से लिखता वा उसे खोलता–बन्द करता हुआ मिलेगा इत्यादि। गरज यह है कि वह सदा कुछ न कुछ करता हुआ ही मिलेगा, माता पिता आदि डाट डपट कर सोने वा आराम से बैंठने को बार–बार कहेंगे, परन्तु तो भी वह अपनी कर्मंठता से यही प्रदर्शित करता रहेगा, यही मानों कहता हुआ मिलेगा अपनी मूक वाणी से, कि–"माँ ! सो तो मैं बहुत चुका, आराम से भी में बहुत बैंठ चुका, अब तो मुझे कुछ जानने को चाहिये, कुछ करने को चाहिये इत्यादि ? उस बच्चे की ज्ञान की भूख वास्तव में सच्ची भूख होती है, उस में कर्म करने की तीव्र इच्छा जो उसे बालात् प्रेरित करती रहती है कि वह कोई काम ढूण्ढे और फिर उसे करने लगे। अब यदि माता पिता उसकी इस तीव्र जिज्ञासा को शान्त करते हैं और इस चिकीर्षा-कर्म करने की तीव्र इच्छा का सदुपयोग करते हैं तो वह बच्चा सही दिशा की ओर अग्रसर होता रहता है, अन्यथा उसका भगवान् ही रक्षक है।

अब जैसे उस बच्चे को ज्ञान चाहिये, प्रज्ञान चाहिये, प्रज्ञा चाहिये, सद्बुद्धि चाहिये, फिर उसे कुछ करने को काम चाहिये और काम भी ऐसा चाहिये जो श्रेष्ठ हो–शुभ हो, अर्थात् यज्ञमय कार्य हो जिससे कि जहाँ उस का सुख–सौभाग्य बढ़ता हो वहाँ अन्यों का भी हित सम्भव होता हो। फिर वैसे ही हमें भी क्रतु–ज्ञान चाहिये, सत्कर्म चाहिये। अब जैसे उस बच्चे को यदि अच्छे माता पिता मिल जाते हैं और वे उसको ज्ञान और सत्कर्म–यज्ञमय कर्म में प्रेरित करते हुये उसे अपने वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर

करते रहते हैं तो तब उसका सुख-सौभाग्य बढ़ता रहता है, वैसे ही हम भी यही चाहते हैं इसलिए तो हमने भी प्रभु से प्रार्थना की कि—

"हे इन्द्र ! यथा पिता पुत्रेभ्यः (तथा) नः क्रतुम् आभर ।" हे जगदीश्वर ! जैसे संसार में एक पिता अपनी सन्तान को क्रतु-प्रज्ञा-सद्बुद्धि-अच्छे से अच्छा ज्ञान देता है, करने को क्रतु-कर्म-अच्छे से अच्छा काम देता है और जहाँ तक समझता है उस को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कर्म अर्थात् यज्ञकर्म करने को कहता है ताकि उसके माध्यम से वह पूज्य से पूज्य देवों का प्यार और आशीर्वाद पा सके और छोटे से छोटे का मान-सम्मान पा सके, वैसे ही हे परमपिता परमेश्वर ! तू हमें क्रतु-ज्ञान दे,-प्रज्ञान दे,-बुद्धि दे,-सद्बुद्धि दे और फिर क्रतु-कर्म-काम दे-सत्कर्म दे। कर्म से पूर्व ज्ञान-बुद्धि इसलिए माँगी कि हमारे जो भी कर्म हों, वे बुद्धिपूर्वक हों, ज्ञान-पूर्वक हों, विवेक पूर्वक हों, आगा-पीछा सोच-विचार कर किए गए हों। तात्पर्य यह है कि प्रभुवर ! हमारा ऐसा कोई भी कार्य न हो जिसके पीछे हमारी बुद्धि सजग होकर काम न कर रही हो और हमारा ऐसा कोई सुज्ञान न हो जो कर्म से-आचरण से विहीन हो। अर्थात् हमारे ज्ञान और कर्म दोनों साथ-साथ चलते रहें। ज्ञान यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों और मस्तिष्क को अलंकृत करे तो कर्म-सत्कर्म हमारी कर्मेन्द्रियों का शृङ्गार बने। मस्तिष्क में ज्ञान हो तो हाथों में कर्म हो। प्रभो ! यह ज्ञान और कर्म-बुद्धि और कर्म तुम हमें ऐसे स्नेह और लाड प्यार से दो, जैसे कि इस संसार में पिता अपनी सन्तान को देता है। वह उसे धीरे-धीरे बुद्धिमान् बनाकर अपने सारे घर का कार्य, व्यापार का कार्य अर्थात् दुकान,

मिल वा फैक्ट्री का सब कार्य उसे सौंप देता है। कार्यभार सौंपने पर फिर कार्य करते हुए यदि वह कहीं त्रुटि करता है तो मध्य-मध्य में उसे पिता अपने अनुभव का ज्ञान दे-दे कर सजग करता रहता है ताकि वह पूर्णतया अपने कार्य में निपुण हो जाय।

"हे पुरुहूत इन्द्र ! अस्मिन् यामनि नः शिक्ष" हे बहुतों से बहुत प्रकार से बार-बार पुकारे जाने वाले प्यारे परमेश्वर ! 'पिता' जैसे पुत्र को ज्ञान देकर काम देता है और फिर मध्य-मध्य में सावधान करता रहता है, वैसे ही तुम भी हमें बुद्धिकपूर्वक काम देकर, ज्ञान-पूर्वक शुभकर्म-यज्ञकर्म देकर इस जीवन पथ में-इस संसार यात्रा में हमें मध्य-मध्य में शिक्षा देते रहो-सजग करते रहो ताकि हम "जीवाः ज्योतिः अशीमहि" जीव जीवित रहते हुए ही ज्योति-आध्यात्म प्रकाश को प्राप्त करें।

अब उस पुरुहूत इन्द्र अर्थात् बहुतों से पुकारे जाने वाले इन्द्र-परमेश्वर के वेदज्ञान के विधान वा प्रेरणा के अनुकूल यदि हमारी प्रज्ञा और कर्म होंगे तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हम अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस के भी पात्र बनेंगे, अर्थात् हमारा तब लोक और परलोक दोनों बन जायेंगे। क्योंकि जब हम लोक में बुद्धि-पूर्वक सत्कर्म करेंगे तो उसका फल हमें स्वाभाविक रूप से लौकिक सुख-सौभाग्य, स्नेह-सम्मान और यश मिलेगा ही । और फिर अगर हम उस बुद्धिपूर्वक किए गए सत्कर्म को भी जब निष्काम भाव से करेंगे तथा उसके परिणाम स्वरूप लोक में उपलब्ध होने वाले फल का भी जब हम त्यागपूर्वक उपभोग करेंगे तो फिर वह भोग भी हमारे बन्धन का कारण न बनकर मुक्ति का साधन बन जायेगा।

मन्त्र पर यदि गम्भीरता से विचार करें तो हमें उस से और भी सुन्दर प्रेरणा मिलेगी। "इन्द्र ! हे प्रभुदेव ! हमें क्रतु दो, (क्रतुः प्रज्ञा यज्ञो वा–उणा० १.७६) हमें कार्य दो, पर कार्य दो तो वह भी यज्ञरूप कार्य ही दो।" अब यह यज्ञ क्या है–"देवपूजा, संगति-करण और दान" अपने से जो श्रेष्ठ हों, ज्ञानी हों, विद्वान् हों तपस्वी हों, मुनि हों, महात्मा हों, सन्यासी हों वा योगी हों, उन सब का सम्मान करने की भावना हम में हो। अब उनकी पूजा, सेवा–सत्कार और मान–सम्मान एवं श्रद्धापूर्वक संगति करने से हमें उन से जो स्नेह मिले, सहानुभूति मिले, ज्ञान मिले, प्रकाश मिले आशीर्वाद मिले, उस को अपने से जो ज्ञान, आयु अनुभव आदि से छोटे मिलें उन्हें स्नेह सहानुभूतिपूर्वक प्रदान करते रहें। इस प्रकार यह यज्ञ भावना हमें समाज का प्रिय बना देगी। अपने से महान् पुरुषों की शरण में जाकर झोली भरना और अपने से छोटों में बांट देना, यह कर्म जहाँ हमें विद्वानों के, ज्ञानियों के, ध्यानियों के, तपस्वियों के, योगियों के स्नेह, सहानुभूति एवं आशीर्वाद का पात्र बनायेगा वहाँ अपने से आयु, अनुभव एवं ज्ञान आदि से हीनों का भी मान-सम्मान एवं श्रद्धा का पात्र बनायेगा। वास्तव में यही यज्ञमय जीवन है जिसके कारण हमारी दोनों मुट्ठियों में सारा संसार हो, एक मुठ्ठी में अपने से श्रेष्ठ जन नम्रता मान-सम्मान आदि के कारण और दूसरी में अपने से हीन जन स्नेह, दया एवं कृपा आदि के कारण। देवपूजा करते-करते, इधर हम ऊँचे से से ऊँचे देवों के दर्शन पाते रहें और उनसे श्रद्धापूर्वक लाभ उठाते रहें और उधर आयु, अनुभव और ज्ञानादि से हीनों एवं हीनतरों को देखते हुए उन पर कृपा करते रहें। यों चलते चलते एक न एक

दिन देवाधिदेव पुरुहूत इन्द्र के हम दर्शन पाकर उसकी पूजा में समर्पित होकर विभोर हो जायेंगे और उसके द्वार पर विभोर होकर इतना प्यार हम में भर जायेगा कि आयु, अनुभव और ज्ञानादि से हीन, हीनतर ही नहीं, हीनतमों और यहाँ तक कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी चींटी आदि तक को भी तब हम अपना प्यार बाँट सकेंगे। यही सर्वात्मभाव है। "मेरा प्रभु घट-घट बसे, किससे करू' मैं वैरे"। यह बहुत उच्च अवस्था है। इस प्यार का परिणाम बड़ा ही विचित्र होता है जिस को यह अपने जीवन में देखने को मिलता है वह बड़ा ही सौभाग्यशाली महापुरुष होता है। अतः "इन्द्र ! नः क्रतुम् आभर" हे प्रभुवर ! हमारे हाथों में शुभ कर्म दो-यज्ञमय कर्म दो, ऐसा यज्ञमय कर्म कि जिससे सब का भला हो, सब का हित हो, जैसा कि इस द्रव्ययज्ञ से होता है। इस प्रकार हमारा प्रत्येक कार्य सर्वहित की कामना मे हो।

हे पुरुहूत परमेश्वर ! हमें इस जीवन पथ पर पदे-पदे शिक्षा देते रहो, प्रेरणा देते रहो। वैसे तो प्रभुवर ! आप प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म पर भीतर से आनन्द, उत्साह और निर्भयता तथा प्रत्येक अशुभ कर्म पर भय, शंका, लज्जा प्रदान कर सावधान करते ही रहते हो, पर फिर भी हमारी प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि हम भी तेरी उस अनहेतुकी कृपा के प्रति सजग रहें।

यदि हमें जीवन में पग-पग पर उस पुरुहूत इन्द्र की शिक्षा मिलती रहे, प्रेरणा मिलती रहे और हम उस पर निरन्तर ध्यान देते रहें तो इसमें सन्देह नहीं कि एक न एक दिन हम ज्योति-परम-ज्योति-परमप्रकाश-परम आनन्द को पा जायेंगे।

हम जिसके द्वार पर खड़े हुए अलख जगा रहे हैं और जिससे

बुद्धि और काम माँग रहे हैं, वह कोई साधारण पुरुष नहीं है, कोई कंगाल पुरुष नहीं है, वह तो जगत्सम्राट् है, परमैश्वर्य वाला है। संसार में किसी रईस-धनी वा राजा के यहाँ कार्य करने पर तो केवल लौकिक ऐश्वर्य ही मिलता है, परन्तु यदि उस परमैश्वर्यवान् प्राणप्रिय प्रभु के यहाँ कार्य मिल जाय तो फिर उसके द्वार से लौकिक एश्वर्य ही नहीं वरन् परमैश्वर्य-परमानन्दरूप धन भी मिलता है जिसे पाकर मनुष्य सब प्रकार से सन्तुष्ट हो जाता है, सब तरह से परितृप्त हो जाता है।

वह पुरुहूत इन्द्र बहुतों का पूज्य है, बहुतों का ही नहीं वरन् सब का पूज्य है। जो आज उसकी पूजा नहीं करते वे भी जिस दिन उसके उपकारों को अनुभव करने लगेंगे, तो वे भी उस दिन अनायास ही उसके ही हो जायेंगे। और उस के होकर उससे वह दिव्य प्रसाद पा जायेंगे कि जिसके उपरान्त उन्हें फिर कुछ प्राप्त करने को शेष नहीं रह जायेगा।

इन्द्र के लिये साम गाओ !

ओ३म् इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ऋ० ८.९८.१ ।
साम १०२५ ॥

अन्वयः—पनस्यवे विपश्चिते ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत ।

१— (गायत) हे मनुष्यो ! हे साधको ! हे उपासको ! तुम गाओ !

२— (साम गायत) हे उपासको ! गाना ही है तो फिर तुम साम गान गाओ ।

३— (बृहत् साम गायत) हे उपासको ! तुम बृहत् साम गान गाओ ।

४— (इन्द्राय बृहत् साम गायत) हे उपासको ! इन्द्र का बृहत् साम गान गाओ ।

५— (विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत) हे उपासको ! ज्ञानी मेधावी परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ ।

६— (बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत) हे उपासको ! महान् ज्ञानी परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ ।

७— (ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत) हे उपासको ! वेदकर्त्ता महान् ज्ञानी परमेश्वर का महान् गुणगान करो ।

८— (विपश्चिते ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्रायं बृहत् साम गायत) हे उपासको ! बुद्धि के प्रेरक वेदोत्पादक महान् ज्ञानी परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ ।

६— (पनस्यवे विपश्चिते ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत) हे साधको! सद्व्यवहारेच्छुक स्तुत्य, बुद्धि के प्रेरक, वेदोत्पादक, महान्, ज्ञानी, परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ।

हे उपासको! तुम गाओ, जब तुम गाते ही हो तो फिर साम गाओ–साम संगीत गाओ–साम गान गाओ। अर्थात् वह गान गाओ जो (साम–षोऽन्तकर्मणि) जीवन में कर्मकाण्ड से आप को ऊपर उठा कर उपासना में निश्चल भाव से बिठा सके, तथा व्यर्थ की हबड़–सबड़, दौड़–धूप, आपा–धापी से उपरत कर शान्तरूप से बिठा सके। तात्पर्य यह है कि जहाँ तन से आप स्थिर बैठे हुए हों वहाँ मन से भी शान्तिपूर्वक वह तुम्हें बिठा सके। यों तो तन से मनुष्य हठ से भी स्थिर होकर बैठ जाते हैं पर वह मन से भी तुम्हें निश्चल भाव से साधना में बिठा सके ऐसा साम गाओ। इसके साथ–साथ (साम–सान्त्वने) वे साम मन्त्र या साम संगीत अथवा सान्त्वना भरे गीत गाओ वा ऐसे ढङ्ग से उपासना करो–प्रभु का गुणगान करो कि तुम्हें भीतर से धीरज मिले–सान्त्वना मिले और ऐसी मिले कि फिर जीवन में किसी भी परिस्थिति में तुम्हें कहीं से भी सान्त्वना की–ढाड़स की अपेक्षा न रहे। इतना ही नहीं कि केवल आप को ही अन्दर से धीरज–ढाड़स-सान्त्वना मिलती रहे प्रत्युत आप के समीप आने वाले हर व्यक्ति को भी आप से वह मिलती रहे।

जब साम ही गाना है तो फिर "बृहत् साम गायत" बृहत् साम गान गाओ, बृहत् नामक सामवेद के संगती को गाओ। इस रूढ़ि गान से आज हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपरिचित हैं या हम में से कुछ इने गिने महानुभाव ही परिचित हैं, परन्तु यौगिक रूप से इस

बृहत् साम शब्द पर विचार करने से यह अर्थ होगा कि तुम वह साम गान गाओ, प्रभु का ऐसा गुणगान करो जो तुम्हारी आत्मा, मन और बुद्धि आदि को जगत् में 'बृहत्' (बृहदिति महतो नाम-धेयम्) महान् बना कर खड़ा कर सके–पूजनीय बना कर खड़ा कर सके। यद्वा तुम परमेश्वर सम्बन्धी बृहत् गान गाओ।

किस लिये गायें? "इन्द्राय बृहत् साम गायत।" तुम उस इन्द्र परमेंश्वर के लिए वृहत् साम गान गाओ, क्योंकि उसी का गुण-गान करने से तुम्हें सुख मिलता है, शान्ति मिलती है, तृप्ति मिलती है, आनन्द मिलता है। उसका गुणगान करने में एक और विशेषता यह है कि यदि तुम जगत् के किसी पदार्थ वा व्यक्ति की स्तुति-प्रशंसा करोगे तो ऐसी अवस्था आ सकती है कि दूसरे यह कह दें कि "क्यों इतना बढ़ चढ़ कर कह रहे हो, हमने देख रखा है जंसा कि वह है।" परन्तु इन्द्र परमेश्वर की जितनी भी स्तुति-जितनी भी प्रशंसा-जितना भी गुणगान तुम करोगे वह उससे बढ़-चढ़ कर ही निकलेगा। सच कहा है किसी भक्त ने-"प्रभुदेव! सारे समुद्र को मसी बनाकर इस संसार रूप पृष्ठ पर मैं तेरा गुणगान लिखता रहूँ तो भी तेरी गुण गरिमा का पार नहीं पाया जा सकता।" अतः वेद में कहा है, तुम उसी का गुणगान करो। इतना ही नहीं वरन् वेद ने और आगे बढ़ कर यह भी कहा है—

"मा चिदन्यद्विशंसत-सखायो मा रिषण्यत।" ऋ० ८. १. १ ॥

हे मित्रो! हे सखाओ! तुम उस इन्द्र को छोड़कर, अन्य किसी की विशेष स्तुति मत करो-अन्य किसी का विशेष गुणगान मत करो-अन्य किसी की पूजा मत करो-अन्य किसी की अराधना मत करो और इस प्रकार अन्यों की पूजा कर के-अराधना कर के तुम

दुःख मत उठाओ, हानि मत उठाओ। यदि करनी ही है तो फिर "इन्द्रम् इत् स्तोत" ऋ० ८. १. १॥ इन्द्र की ही—परमेश्वर की ही तुम स्तुति करो, गुणगान करो, पूजा करो, अराधना करो, उपासना करो।

इस प्रकार इस उपर्युक्त मन्त्र में बतलाया गया है कि यदि तुम उस इन्द्र का ही गुणगान करते रहोगे तो तुम्हें कभी निराश नहीं होना पड़ेगा, कभी हताश नहीं होना पड़ेगा, क्योंकि वह सदा तुम्हारी प्रशंसा से तुम्हें महान् ही मिलेगा, तुम्हें आगे बढ़ा हुआ ही मिलेगा। इतना ही नहीं उसका गुणगान करने से उसके गुण—कर्म—स्वभावों पर श्रद्धा रखने से वह तुम्हें भी उन दिव्य गुण—कर्म—स्वभावों से, आध्यात्मिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न कर देगा, तुम अनिन्द्रों को—इन्द्रियों के दासों को इन्द्रियों का स्वामी बना कर खड़ा कर देगा··· ·····। फिर आगे कहा गया है—"विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत" ज्ञानी मेधावी इन्द्र परमेश्वर के लिए बृहत् साम गान गाओ। अब इन्द्र एश्वर्यशाली भी तो संसार में पर्याप्त हैं, तो फिर हम किस इन्द्र का गुणगान करें ?

जो विप्र है, मेधावी है, ज्ञानी है, सर्वविध ऐश्वर्यों का स्वामी है, संयमी है, ऐसे प्रभु का गुणगान करो। मेधावी, ज्ञानी, संयमी, ऐश्वर्यशाली भी तो जगत् में बहुत हैं, तो फिर हम किस का गुण-गाण करें ?

"बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत" जो सबसे महान् ज्ञानी है, परमैश्वर्यवान् प्रभु है उसके लिए बृहत् साम गान गाओ। अर्थात् जो सबसे महान् ज्ञानी है, ऐसे परमैश्वर्य के भण्डार परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ। उस महान् साम गान से तुम दुनियाँ

को नहीं वरन् प्रभु को रिझाने का प्रयत्न करो। दुनिया की वाह-वाही के लिए प्रभु का गुणगान करने का फल बहुत सामान्य होता है जब कि प्रभु में विभोर होकर प्रभु के लिए जो गुणगान करना है वह श्रेय को देने वाला होता है।

महान् ज्ञानी संयमी वैभवशाली भी संसार में बहुत हैं तो फिर हम किस का गुणगान करें?–"ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत"-वेदोत्पादक सबसे महान् ज्ञानी परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिए बृहत् साम का गान करो। जिसने मानव मात्र के लिए वेदज्ञान का जगत् में आविर्भाव किया है उस विशेष महान् ज्ञानी इन्द्र-परमेश्वर का ही तुम गुणगान करो।

वह प्रभु "ब्रह्मकृत्" है। वेद द्वारा मानव मात्र को ज्ञान देने के लिए केवल वेद का आविर्भाव ही नहीं करता वरन् वह "विपश्चित्" भी है, अर्थात् "विपः–बुद्धि" को "चित्–चेताने वाला, सदा सम्यक् ज्ञान देने वाला भी है। इस प्रकार वह बाहर से वेद ज्ञान प्रदान करता है और भीतर से बुद्धि को सावधान करता रहता है। ऐसे विशिष्ट ज्ञानी के प्रति जो निरन्तर अन्दर से अन्तर्यामी रूप में विराजमान होकर हमें अपनी सत्प्रेरणा से सदा सावधान करता रहता है और इधर वेद के ज्ञान द्वारा भी, ऐसे–"विपश्चिते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत"-बुद्धि को सचेत करने वाले वेदो-त्पादक ज्ञानी परमेश्वर का बृहत् साम गान गाओ, जी भर कर गुणगान करो।

अन्तर्यामी होकर भीतर से और बाहर से वेद वा विद्वानों द्वारा उस को प्रेरणा देने का उद्देश्य क्या है जिसके लिए कि वह ऐसा करता है?–वह 'पनस्युः' है (पण व्यवहारे स्तुतौ च) वह जगत्

में हमारा कल्याण चाहता है, अतः अपनी अनहेतुकी कृपा से वह हमें प्रत्येक व्यवहार में निपुण तथा प्रत्येक व्यवहार में स्तुत्य-प्रशंसनीय देखना चाहता है, इसलिए ही तो वह हमें अन्दर से प्रेरणा और बाहर से वेद द्वारा सदा सचेत करता रहता है, सदा सावधान करता रहता है। तभी तो कहा गया है मन्त्र में कि–"पनस्यवे विपश्चिते ब्रह्मकृते बृहते विप्राय इन्द्राय बृहत् साम गायत"–'तुम व्यवहार में सदा निपुण और स्तुत्य करने वाले, सदा बुद्धि को सजग और सचेत करने वाले वेदोत्पादक महान् ज्ञानी परमेश्वर के लिए महान् गुणगान करो।

यदि वह परमेश्वर हमारे व्यवहारों को दिव्य और प्रशंसनीय न बनाना चाहता होता तो वेद में निम्नलिखित ऐसे–ऐसे दिव्य उपदेश ऐसी–ऐसी पावन शिक्षायें हमें क्यों प्रदान करता !

"सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभि-हर्यंत जातं वत्सभिवाघ्न्या ।। अ० ३. ३ १ ।। अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।। अ० ३. ३०. २ ।। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।। अ० ३. ३०. ३ ।।। यजु० ।। मधुमन्मे निःक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंहशः ।। अथर्ववेद ।।
पुमांन् पुमासं परिपातु विश्वतः··········· ·······।। ऋग्वेद ।।
उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था·····················—···।। अथर्व० ।।
उद्यानं ते पुरुष नावयानम · ······················ ।। अथर्व० ।।

ऐसी दिव्य–दिव्य और पावन–पावन शिक्षायें और उपदेश दे–दे कर वह प्रभु हमारे व्यवहारों को इतना दिव्य और पावन बना देता है कि हमारे मित्रों की बात तो दूर रही हमारे शत्रुओं

तक के हृदयों में भी हमारे प्रति एक अनुपम साख सी उत्पन्न हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जहाँ वह हमारे व्यवहारों को दिव्य एवं स्तुत्य बना कर शत्रुओं के हृदयों में भी हमारी साख पैदा करना चाहता है वहाँ वह हमें उनके दिव्य और पावन व्यवहारों की भी यथोचित स्तुति–प्रशंसा करने को प्रेरित करता रहता है ताकि उनकी यथो–चित स्तुति के द्वारा उनको भी हम अपने प्रतीत हो सकें, मित्रों को तो हम अपने लगते ही हैं। यहाँ तक कि एक दिन ऐसा आ जाए कि वे भी यह कह सकें कि "नासमझ दोस्तों से समझदार शत्रु ही भले हैं, जिन्होंने सदा हमारे दोष को दोष और गुण को गुण कहा और सदा हमें सावधान किया। इसी कारण से ही वे हमारे शत्रु भी बने, पर इधर वे मित्र भी अमित्र हैं जो हमें प्रसन्न करने के लिए हमारे दोषों को भी गुण कहते हुए हमें फुलाते रहे और हम भी उस झूठी प्रशंसा में फूलते हुए अपने को यों ही बड़े से बड़ा समझते रहे जिसके परिणाम स्वरूप हमें एक दिन मुँह की खानी पड़ी।" अत एव उन व्यवहारों को दिव्य से दिव्य, पावन से पावन और स्तुत्य बनाने वाला जो "पनस्युः" है, 'विपश्चित्' जो बुद्धि को सजग करने वाला 'ब्रह्मकृत्' है–वेद का सृष्टि के आदि में ऋषियों द्वारा जगत् में आविर्भाव करने वाला है, 'बृहत्' जो महान् है 'विप्र' जो ज्ञानी है "इन्द्र" परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है, उसका जी भरकर गुणगान करो, विभोर होकर गुण–गान करो। प्रभु का श्रद्धा भक्ति से गुणगान करने से उस प्रभु का तो कुछ नहीं बनेगा, पर यदि कुछ बनेगा तो उससे भी तुम्हारा ही कुछ बनेगा। उससे तुम्हारा अन्तःकरण दिव्य बनेगा, तुम्हारी बुद्धि निर्मल बनेगी, तुम्हारे

विचार अनुपम बनेंगे, तुम्हारे आहार, विहार और व्यवहार निश्चल और पवित्र बनेंगे। अतः प्रतिदिन सायं प्रातः उस का शुद्ध पवित्र होकर श्रद्धा-भक्ति से गुण-गान किया करो। यही इस मन्त्र का आदेश है, यही इस मन्त्र का उपदेश, यही इस मन्त्र का सन्देश है।

भगवान् हमें सद्बुद्धि दे

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ यजु० ३.३५ ॥ यजु० ३६.३ ॥ ऋ० ३.६२.१० ॥

अन्वयः–ओ३म् भूः भुवः स्वः। [वयम्] सवितुः देवस्य [यत्] वरेण्यं भर्गः, तत् धीमहि। यः, नः धियः प्रचोदयात्।

अन्वयार्थः–(ओ३म् भूः भुवः स्वः) जो सबका रक्षक है, प्राणाधार है, दुःखविनाशक और सुख का देने वाला है। ऐसे (सवितुः देवस्य [यत्] वरेण्यं भर्गः) सकल संसार के स्रष्टा एवं प्रेरक दिव्य गुणों के भण्डार परमेश्वर का जो शुद्धतम वरण करने योग्य, पापों को दग्ध करने वाला तेजः स्वरूप है (तत् धीमहि) उसका हम ध्यान करें वा धारण करें (य., नः धियः प्रचोदयात्) अब जो उपर्युक्त स्वरूप वाला है, वह हमारी बुद्धियों को, हमारे कर्मों को सन्मार्ग की और प्रेरित करे।

'ओ३म्' परमात्मा का मुख्य नाम है। [1]साधक जन–उपासक जन प्रभु के इस 'ओ३म्' नाम का बड़ी श्रद्धा भक्ति से जप करते हैं और साथ–साथ इसके अर्थ की भावना भी करते हैं। इस एक 'ओ३म्' शव्द के अनेकों कर्थ हैं, इतने कि जिन में परमेश्वर के सभी गौणिक नाम–गुणवाचक नाम समा जाते हैं। हम यहाँ उन सभी अर्थों को न भी ग्रहण करें तो भी उन सभी अर्थों में से प्रथम अर्थ–"अवति रक्षतीति ओ३म"–सब की रक्षा करता है, इसलिए 'ओ३म्'

---

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्।" योग १.२८ ॥

उसका नाम है" अपने में पर्याप्त सार समेटे हुए है। वह परमेश्वर सब प्रकार से हमारी रक्षा करता है। यदि वह हमारी रक्षा न करता होता, हमारा सब प्रकार से ध्यान न रखता होता, तो मातृगर्भ में पड़े–पड़े हमारी क्या दशा होती ? क्या हम सब प्राणी इतने विकास को कभी प्राप्त कर पाते ! फिर कौन नर, कौन नारी, कौन वैद्य कौन हकीम, कौन डाक्टर यह कह सकता है कि "मैं उस एक बून्द से धीरे–धीरे इस सुन्दर शरीर, इस अनुपम देह, इस चमत्कृत काया का निर्माण कर रहा हूँ।" अर्थात् कोई नहीं कह सकता। फिर कौन यह जान सकता है और बता सकता है कि भीतर बनने वाला बालक है वा बालिका है, नर है वा मादा ? फिर वह अन्धा है, बहिरा है, लूला है, लङ्गड़ा है या बिल्कुल ठीक–ठाक है, यह सब भी कौन जान सकता है ? यह सब कुछ तो केवल एक वही जान सकता है जो सर्वव्यापक प्रभु निरन्तर उसको बना रहा है और उस की रक्षा-सुरक्षा का अनवरत प्रबन्ध कर रहा है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को निरन्तर उसके कर्मों के आधार पर विकसित कर रहा है, कर्मों के ही आधार पर उसकी जाति, आयु ओर भोग की व्यवस्था कर रहा है। सभी हृदय से यह अनुभव करते हैं कि वह कोई विलक्षण ही दिव्य सत्ता है जो भीतर ही भीतर रचना भी कर रही है और उसकी रक्षा भी कर रही है। वह बालक बाहर आया नहीं कि माँ के, स्तनों से उस बालक के लिए दूध झरने लगा, उसको प्यास लगी कि पानी उसके सामने उपस्थित होने लगा। फिर उस बालक के दान्त आए नहीं कि नानाविध खाद्य–पदार्थ उस के सम्मुख आने लगे। यह सब व्यवस्था उसी सर्वरक्षक प्रभु ने ही तो कर रखी है। कौन है दूसरा ऐसा जो यह कहने का भी साहस कर सके कि

"यह सब क्रिया-कलाप मैं ही कर रहा हूँ"। इस लिए वही प्रभु रक्षक है, सब का संरक्षक है।

वह 'ओ३म्' प्रभु रक्षक ही नहीं वरन् "[1]भूः" भी है, प्राण है, प्राण का भी प्राण है अर्थात् हमें अनुप्रमाणित करने वाला भी वही परमेश्वर है। यदि वह भूः-प्राणस्वरूप न होता तो कौन इस जड़ देह में प्राण फूंक कर इसको अनुप्रामणित कर पाता! फिर जिस दिन, जिस घड़ी, जिस क्षण वह इस शरीर में से अपनी न्याय व्यवस्था के अनुसार प्राणों को समेट लेता है, उसी दिन, उसी घड़ी, उसी क्षण से यह शरीर निश्चेष्ट-जड़ रूप होके रह जाता है और सभी बन्धु-बान्धव, सखा-मित्र, अपने-पराये, निर्बल-बलवान्, ज्ञानी-अज्ञानी स्तब्ध से रह जाते हैं, खड़े के खड़े ही रह जाते हैं। सब बहुत कुछ हाथ-पैर पटकते हैं, रोते-करलाते हैं, हाय-तोबा करते हैं पर अन्त में यही सब कह के रह जाते हैं कि उसकी व्यवस्था में कौन दखल दे सकता है? उसके सामने किसकी दाल गल सकती है? उसके सम्मुख किसकी चल सकती है? अतः उसी की शरण में जा कर सब नमस्कार करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि-"हे प्रभुवर! यह तो सत्य है कि तूने अपनी न्याय व्यवस्था से ही यह कष्ट दिया होगा, पर अब जब यह कष्ट दिया है तो अपनी अपार कृपा से धीरज भी तू ही दे, ढाड़स भी तू ही बन्धा, यह असह्य घाव किया है तो मर्हम भी अब तू ही लगा। इस प्रकार वह कर्मानुसार मनुष्य को अनुप्राणित भी करता है और अन्त में वह प्राणों

---

१. भूरिति वै प्राणः ॥ (तै० उ०) ॥ यः प्राणयति सर्वान् प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा ॥

को समेट भी लेता है। इस प्राण से प्राणी कों अनुप्राणित करने के ही कारण से उसे यहाँ 'भूः' कहा गया है, प्राण कहा गया है, प्राणाधार कहा गया है, प्राणप्रिय कहा गया है।

इतना ही नहीं उसे "[२]भुवः" भी कहते हैं। वह "भुवः" अर्थात् दुःख विनाशक भी है। उस प्रभु को देखो, हमारे दुःखों को वह कैसे दूर करता है। जैसे हमें भूख लगती है, प्यास लगती है, तो हमारी इस बुभुक्षा और पिपासा–भूख और प्यास को यदि वह दूर नहीं करना चाहता तो भला कैसे वह इस जगत् में हमारे लिये अन्न और जल की इतनी भरपूर व्यवस्था करता। यदि वह हमारे शरीर में विद्यमान रहने वाले प्राणों को निरन्तर न चलाये रखना चाहता तो भला कैसे वह इस प्राणवायु का दान देता । यदि वह हमें अन्धकार में होने वाले कष्टों से अर्थात् ठोकर खाने वा गर्त में गिरने आदि–आदि से न बचाना चाहता तो भला कैसे वह इन दिव्य दो प्रकाश–कन्दों की, दो अद्वितीय बड़े बल्वों की, सूर्य और चन्द्र की व्यवस्था कैसे करता। यदि वह हमें अकर्मण्यता के दुःख से न बचाना चाहता तो कर्मठता के लिए दिवस क्यों बनाता। अगर वह हमारी थकान को नहीं हरना चाहता तो वह हमारे विश्राम के लिए भला रात्रि क्यों बनाता। यदि वह हमारे आन्तरिक दुःखों-आभ्यान्तरिक कष्टों को दूर न करना चाहता तो हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष आदि की अग्नि में निरन्तर जलते–भुनते हुओं को वह दिव्य वेदज्ञान क्यों देता! यदि वह हमारे पारिवारिक, सामाजिक कष्टों को दूर न करना चाहता तो तत्सम्बन्धी दिव्य उपदेश एवं

---

२. भुवरित्यपानः। (तै० उ०)। अपनयति दुःखमित्यपानः।

शिक्षायें वेदों में क्यों कर प्रदान करता.........। यह सब कुछ देख कर यही प्रतीत होता है कि वह प्रभु निरन्तर हमारे दुःख दूर करना चाहता है और करता भी रहता है। यहाँ तक कि यदि वह "मृत्यु" भी हमें प्रदान करता है जो बाहर से हम सबको बड़ी कष्टप्रद प्रतीत होती है तो उसमें भी उसका अभिप्राय यही होता है कि हम अपनी उस अवस्था से अधिक सुखी हो जायें। क्योंकि उस समय यह जीव इस जीर्ण-शीर्ण शरीर में न अच्छी प्रकार चल-फिर सकता होता है, न खा-पी सकता होता है, न बोल-चाल सकता होता है, न कोई काम-काज कर सकता होता है, तो इसको बदल ही डालने में इसका सुख है यह विचार कर ही हमारे पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीर रूपी वस्त्र को उतार कर हमें नवीन वस्त्र रूपी शरीर प्रदान करता है। फिर भी उस अबोध बालक के समान उस परम मां के अभिप्राय को न समझ कर हम रोवें, जो कि हमारे पुराने गन्दे वस्त्र बदलकर हमें नए वस्त्र पहनाना चाह रही होती तो इस में हमारी ही कमी है।

वह 'ओ३म्' प्रभु केवल "भूः, भुवः" प्राणाधार और दुःख-विनाशक ही नहीं है वरन् "स्वः" स्वयं सुखस्वरूप है और सब को सुख प्रदान करने वाला भी है। इस सुख की प्राप्ति के लिये "स्वरिति व्यानः-व्यानयति चेष्टयतीति व्यानः" वह सब को निरन्तर सचेष्ट करता रहता है। अब जब वह ऐसे सुख के अभिलाषी व्यक्तियों को देखता है और उस अभिलाषा के अनुरूप उन को प्रयत्न करते हुये भी देखता है तो फिर वह सुखस्वरूप प्रभु उनकी पात्रता के अनुसार उनके प्रति सुखों का स्रोत भी बहा देता है। यदि वह हम सब को सुख न देना चाहता होता तो फिर वह नाना प्रकार के इन

सुख–सोभाग्य के साधन हमारे लिये क्यों जुटाता रहता। संसार के इन सुखमय नाना प्रकार के पदार्थों की रचना से तो यही ज्ञात होता है कि वह हमें सब प्रकार से सुखी करना चाहता है, पर अगर उन्हीं पदार्थों का दुरुपयोग करके हम स्वयं ही उनसे दुःख उठाने लगें तो यह बात पृथक् है। उस प्रभु ने तो सात्विक अन्न जौ, अंगूर, गन्ना आदि सुन्दर–सुन्दर सुखप्रद पदार्थ हमें सुख प्रदान करने के लिये ही बनाये हैं पर अगर हम ही उनको सड़ा–सड़ा कर और उनकी शराब बना–बना कर और उसे पी–पी कर दुःख उठाते रहें और अपने घर को बरबाद करते रहें तो इस में उस प्रभु का क्या दोष है। उसने न जाने हमारे स्वाद सुख के लिये कितने स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ दिये हैं, नाना प्रकार के पेय प्रदान किये हैं, नाना प्रकार के फल मेवे प्रदान किये हैं, देखने को सुन्दर से सुन्दर दृश्य दिये हैं, प्रिय से प्रिय स्थान दिये हैं, पर हम ही उनका दुरुपयोग करके अपने में अति–काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष आदि की आग उत्पन्न करके स्वयं उस अग्नि में जलते, भुनते और झुलसते रहें तो इसमें हमारा ही दोष है उस का तो नहीं। उस ने तो प्रिय से प्रिय और स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ भक्षण करने को इसलिये दिये हैं कि हम उन्हें खा–खा कर प्रसन्न हों, सुखी हों, तृप्त हों, पर अगर हम ही लोभ में आकर अधिक खा–खा कर अपने तन को रोगी बना लेवें तो इस में उस प्रभु का क्या दोष है ? इसी प्रकार अपने कर्मों के आधार पर हमें जो धन-वैभव, स्नेह–सम्मान आदि प्राप्त हो और हम उस में सन्तोष न करके दूसरों के धन–वैभव को देख-देख कर ईर्ष्या की, डाह की अग्नि में जलते रहें तो इस में प्रभु क्या करे ? इतना ही नहीं कि

केवल उस ने यह सब कुछ हमें प्रदान कर दिया प्रत्युत उस ने तो इस सब वैभव का सदुपयोग करने का ज्ञान भी हमें वेदों में प्रदान कर दिया ताकि हम इस सब वैभव से सुख ही पा सकें।

इतना होने पर भी वह प्रभु "सविता" है अर्थात् वह सबको उत्पन्न करने वाला है। वह उत्पन्न करने वाला ही नहीं वरन् सबको प्रेरणा देने वाला भी है। अर्थात् वह सबको उत्पन्न करके यों ही नहीं छोड़ देता प्रत्युत सब को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा भी देता रहता है। और वह सत्प्रेरणा भी इसलिए देता रहता है कि जिस से सब सुदीर्घ काल तक प्राणवान् बन के रह सकें, जी सकें, सब दुखों से दूर हो सकें और सब सुखों को पा सकें। इसलिये ही तो दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्य के लिये वह वेद में एवं भीतर से प्रातः सायं प्राणवान् वायु में भ्रमणार्थं प्रेरित करते रहते हैं........। वह प्रभु चाहता है कि सब के दुख दूर हों। तभी जहाँ वह नाना प्रकार की रोगविनाशक औषधियाँ उत्पन्न करता है वहाँ उनके सदुपयोग करने की भी वह प्रेरणा देता रहता है। सच पूछा जाय तो वह प्रभु तो वास्तव में हमारे आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दुःखों से हमें मुक्त करना चाहता है तभी ही वह वैसा ज्ञान और वैसी ही प्रेरणा निरन्तर देता रहता है।

वह ऐसा क्यों करता है? इसलिये कि वह "देव" है, दिव्य है, दिव्य गुणों का भण्डार है। फिर वह ऐसा है कि इन दिव्य गुणों के भण्डार को, अपने दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, वरन् औरों को भी देता है, इसलिये वह 'देव' है। अर्थात् वह इन सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों का दाता है, प्रदाता है। यदि वह ऐसा न होता तो वह 'देव' कैसे कहाता?

देवाधिदेव कैसे कहाता ? अतः ऐसे सर्वोत्पादक दिव्य गुण–कर्म–स्वभावों के दाता-प्रदाता परमेश्वर का "यत् वरेण्यं भर्गः" जो शुद्धतम वरण करने के योग्य, पापों को भस्म करने वाला तेजः–स्वरूप है "तत् धीमहि" उसका हम ध्यान करें, उसको हम धारण करें।

अब ऐसा भर्गःस्वरूप–तेजःस्वरूप जो सविता देव है, सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक जो दिव्य देव है, वह क्या करता है ? उसका प्रथम कार्य तो यह है कि वह हमारे कुसंस्कारों को भूनता है, वह हमारी कुवासनाओं को भूनता हें, हमारी कुवृत्तियों को भूनता है और उन्हें दग्ध-बीज–भाव वाली बनाता है जिसका परिणाम यह होता है कि फिर वे कुवासनायें. वे कुवृत्तियाँ जव प्रभु के भर्गः–स्वरूप–तेजःस्वरूप के सम्पर्क से भुन जाती हैं तो वे ऐसे दग्ध–बीज–भाव को प्राप्त हो जाती हैं जैसे कि भड़भूजे के भुने हुए चने आदि–आदि। क्योंकि भड़भूजा जब चनों को भून डालता है तो फिर दग्ध-बीज–भाव को प्राप्त हुए-हुए वे चने जैसे बीज बनकर नए चनों को नहीं उत्पन्न कर सकते, ठीक वैसे ही वे कुसंस्कार, वे कुवासनायें, वे कुवृत्तियाँ उस परम पवित्र भर्गःस्वरूप प्रभु के सम्पर्क में जाने पर अर्थात् उस का ध्यान वा धारण करने पर भुनकर दग्ध-बीज–भाव को प्राप्त होकर पुनः अगले कुसंस्कारों को, अगली कुवासनाओं को, अगली कुवृत्तियों को नहीं जन सकेंगे। अब "[1]यः" जो उस तेजःस्वरूप वाला प्रभु है वह आने वाले जीवन

---

१. "यत्तदो नित्यसम्बन्धः" इस नियम से 'यः' आया तो 'सः' भी आ गया।

में "नः[२]धियः प्रचोदयात्" हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह केवल हमारी बुद्धियों को ही नहीं वरन् हमारे कर्मों को भी सत्पथ की ओर प्रेरित करता है। अर्थात् वह प्यारा और सब जग से न्यारा प्राणप्रिय प्रभु हमारे जीवन को एक नया क्रम देता है, एक नई दिशा देता है, एक नई राह देता है।

इस प्रकार जब वह हमारी बुद्धियों को निरन्तर कुमार्ग से रोक कर सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है तो इस से हमारे सोचने विचारने का प्रकार बदल जाता है, दिशा बदल जाती है, राह बदल जाती है। अर्थात् हमारी बुद्धि सुबुद्धि में बदल जाती है, हमारा कुचिन्तन सुचिन्तन में बदल जाता है, हमारे कुविचार सुविचारों में बदल जाते हैं। इस प्रकार हमारी बुद्धि सुबुद्धि में, चिन्तन सुचिन्तन में, विचार सुविचारों में परिवर्तित होने पर प्रभु कृपा से, प्रभु प्रेरणा से फिर हमारे सुचिन्तन और सुविचारों के आधार पर ही हमारे कर्म सुकर्मों में अर्थात् आहार सदाहरों में, विहार सुविहारों में और व्यवहार सुव्यहारों में बदल जाते हैं।

इस तरह जब प्रभु ने हमें ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ दोनों प्रदान की हैं तो जैसे हमारी बुद्धियाँ उस से प्रेरित होती हैं तो बुद्धियों के आधार पर हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ भी उससे प्रेरित होती रहती हैं। तब उस समय जोह म सोचते हैं वह शुभ होता है, जो हम देखते हैं वह शुभ होता है, जो हम सुनते हें वह शुभ होता है, जो हम सूँघते हैं वह शुभ होता है, जो हम छूते हैं वह शुभ होता है, जो हम स्वाद लेते हैं वह शुभ होता है। अब जब यह सब शुभ

---

२. धी कर्म च प्रज्ञा च।

होता है तो फिर हम कर्मेन्द्रियों से जो करते हैं वह भी शुभ होता है। अर्थात् जो हम खाते हैं वह पदार्थ शुभ होता है, जो पीते हैं वह शुभ होता है, जो हम हाथों से करते हैं वह शुभ होता है, जहाँ हम चलते हैं वह स्थान शुभ होता है··· ·····। अर्थात् वह सब न्याय से अर्जित होता है, अपने हक का होता है जिसको कि हम प्राप्त करते हैं वा सेवन करते हैं।

इस प्रकार शुभ सोचने-विचारने और शुभ करने का परिणाम भी सदा शुभ ही होता है। फिर उससे हमारा लोक भी बनता है और परलोक भी बनता है। अर्थात् हमें फिर इस लोक में भी सुख-सौभाग्य, मान-सम्मान आदि मिलता है और हमारा परलोक भी सुधर जाता है, हमें प्रभु का अनुपम प्यार और आशीर्वाद भी मिल जाता है।

इस मन्त्र का सार यही है कि हम उस परम रक्षक, प्राणाधार, दुःखविनाशक, सुखों के दाता सविता देव के शुद्धतम वरणीय भर्गःस्वरूप का प्रतिदिन प्रातः साय ध्यान करें वा धारण करें और ऐसे पावन स्वरूप वाला वह प्रभुदेव हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता रहे ताकि हमारा सब प्रकार से कल्याण हो। इसी मन्त्रगत सार को हृदय में रखकर सच्चे साधक-सच्चे प्रभु भक्त निरन्तर इस सन्त्र के अनुसार जप-तप करते हुए इसी टेक पर टिके रहते हैं, इसी सार गर्भित प्रार्थना पर जमे रहते है कि "भगवान हमें सद्बुद्धि दे"।

प्रभु वृत्र का विनाश कर सुखों की वर्षा करे।

ऋषिः-श्रुतकक्षा । देवता-इन्द्रः । छन्दः-गायत्री ।

ओ३म् तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ साम० १२२२ ॥ ऋ ७.९३.७ ॥

अन्वयः-महे वृत्राय हन्तवे तम् इन्द्रम् वाजयामसि । वृषा सः वृषभः भुवत् ।

अन्वयार्थः-(महे वृत्राय हन्तवे) महान् वृत्र अर्थात् आवरक पापभाव के हनन करने के लिये, नष्ट करने के लिए (तम् इन्द्रं [1]वाजयामसि) उस इन्द्र परमेश्वर की हम अर्चना करते हैं, स्तुति करते हैं वा उस इन्द्र को हम अपनी ओर गतिशील करते हैं। (वृषा सः वृषभः भुवत्) सुखवर्षक वह परमेश्वर हम पर सुखों की वर्षा करने वाला हो ।

महान् वृत्रों के विनाश के लिए हम उस सर्वव्यापक परमेश्वर की स्तुति कर उसे अपनी ओर आवर्जित करते हैं ताकि सुखों की वर्षा करने वाला वह प्रभु हमारे पाप-ताप रूप वृत्रों को समाप्त कर हम पर सुखों की वर्षा करे ।

अब जो वृत्र हैं, आवरक हैं, अच्छादक हैं, हमारे जीवनोत्थान में बाधक हैं, आगे बढ़ने में अवरोधक हैं, सब प्रकार से रुकावट पैदा करने वाले हैं, ऐसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, मद, मात्सर्य आदि रूप में विद्यमान महान् बलशाली वृत्र-शत्रु को

---

१. "वाजयति-अर्चतिकर्मा" वाजयति-गतिकर्मा । निघं० ३.१४ ।

समाप्त करने के लिए, हम उस इन्द्र को पुकारते हैं, हम उस को अपनी ओर आवर्जित करते हैं, जो जगत् के सब राजाओं में सब से बड़ा राजा है, वीरों में सब से बड़ा वीर है, धीरों में सब से बड़ा धीर है, विद्वानों में सबसे बड़ा विद्वान् है, ज्ञानियों में सबसे बड़ा ज्ञानी है। अतः वह सुख-सौभाग्यों की वर्षा करने वाला प्रभु हमें अवश्य इन पाप-ताप रूप वृत्रों से बचा कर हम पर इन साँसारिक सुख-सौभाग्यों की ही नहीं वरन् महान् सौभाग्य की भी वर्षा करेगा।

उस जगत् सम्राट् इन्द्र को अपने प्रति आवर्जित करने के दो ही प्रकार हैं–एक तो यह, जब कि हम पूर्णतया उस के प्रति आत्म-समर्पण कर देते हैं और दूसरा यह कि जब हम अपनी कठिनाई आदि के अवसरों पर अपनी दयनीय अवस्था में उस का आश्रय पाने के लिये उस को बड़ी आशा एवं विश्वास से पुकारते हैं वा उस की ओर अग्रसर होते हैं।

कई बार हम एक बच्चे को बड़े प्यार से अपनी गोदी में लेना चाहते हैं, परन्तु वह हमारे प्रति गतिशील नहीं होता–हरकत में नहीं आता। परन्तु उसी बच्चे को जब हम कोई सुन्दर खिलोना या कोई ऐसा स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ जो उसे बहुत प्रिय लगता हो, दिखाते हैं या देने आदि की प्रक्रिया करते हैं तो वह धीरे-धीरे हमारे प्रति गतिशील होने लगता है। अब यह बच्चा जो हमारे हाथ में कोई सुन्दर खिलोना या खाद्य पदार्थ देख कर हमारे प्रति सरकने लगता है, वही बच्चा माँ के हाथ में किसी आकर्षक वस्तु आदि के अभाव में भी, यहाँ तक कि माँ के घूर-घूर कर देखने वा क्रोध आदि वश लाल-पीली होने पर भी, यहाँ तक कि मार-पीट कर

परे धकेलने पर रोते हुए भी उस माँ की ओर आगे ही बढ़ता चला जाता है, क्योंकि वह अपनी मां में इन विपरीत प्रकार के व्यवहारों को देख कर भी अपने प्रति आन्तरिक दिव्य स्नेह, सहानुभूति, सुचिन्तन एवं उच्च महत्वाकाक्षायें देखता है। इन सब बातों की वह व्याख्या नहीं कर सकता पर हृदय से उसे यह सब अनुभव हो रहा होता है।

क्या हम ने कभी विचार किया है कि वह माँ उस बच्चे के प्रति गतिशील क्यों है? उसके भविष्य के सुख–दुःख हानि–लाभ के लिए फिक्रमन्द क्यों हैं? इस लिए कि बच्चे का उस के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण है। फिर इतना निश्छल और दिव्य समर्पण है कि उस में बुद्धि[1] आदि का तनिक भी प्रवेश नहीं है। उस बच्चे के मन में यह बात कभी नहीं आई कि मैं उस माँ के प्रति इसलिये समर्पण करूं कि वह बहुत अच्छी है, सुन्दर है, धन–वैभव से सम्पन्न है, बहुत सेवा–भाव वाली है या उस का व्यक्तित्व बहुत बढ़िया है, बात–चीत करने का ढङ्ग बहुत अच्छा है, रहन–सहन का स्तर बहुत ऊँचा है, फिर समाज में उस का मान–सम्मान है, दानियों में उस की गणना की जाती है, ज्ञानियों में उस का विशेष स्थान है, उपासकों में उसकी विशेष स्थिति है, संगीत में उस की रुचि है, आध्यात्मिक भक्ति भरे गीतों में उस की अभिरुचि है, शान्त-स्वभाव की है, धार्मिक विचारों वाली है, शील सम्पन्न है........। यह सब कुछ न होने पर भी उस बच्चे के हृदय में माँ के प्रति

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
बुद्धि आदि से उसकी प्राप्ति सम्भव भी नहीं। मुण्डक. ३.३।

एक अनुपम विश्वास है, श्रद्धा है, आस्था है, निष्ठा है, इसलिए वह माँ के प्रति इतना समर्पित रहता है कि अपने भविष्य का वह कुछ भी तो चिन्तन नहीं करता। माँ कहती है, "बेटा ! यह अब खा ले, शेष फिर खा लेना"। पर वह बेटा फिर के लिये इस में से कुछ नहीं रखना चाहता। वह तो यह सब कुछ खा-पी कर अभी ही समाप्त करना चाहता है। वह हृदय में सदा यह विश्वास लिए हुए कहता है कि "फिर की चिन्ता तो माँ तू कर, मैं नहीं करता। तेरे रहते हुए फिर क्या खाऊँगा, यह चिन्ता मैं क्यों करूं ?" यह सब कुछ बुद्धि से सोच कर बच्चा माँ के प्रति आत्म-समर्पण नहीं करता जैसा कि हम प्रायः संसार में किया करते हैं। हम दान भी करते हैं, सेवा भी करते हैं, खिलाते-पिलाते भी रहते हैं, परन्तु वास्तव में भीतर से हमारी ऐसा करने की इच्छा नहीं हो रही होती। ऐसी दशा में स्वाध्याय सत्संग आदि के आधार पर हमारी बुद्धि हमें नाना प्रकार से समझाती है कि "ऐसा करने से लोक में यश होगा, सब ओर से प्रशंसा होगी, सुख मिलेगा। फिर अकेला खाना तो मानो पाप खाना है। स्वार्थी बने रहना भी कोई अच्छी बात नहीं है। फिर अपनी सेवा शुश्रूषा कराने की अपेक्षा दूसरों की सेवा शुश्रूषा करना अधिक अच्छा है...... ।" तब कहीं हम प्रभु के विधान पर विश्वास कर यह सब कुछ कर पाते हैं। पर बच्चे को माँ पर विश्वास करके उस के प्रति समर्पण करने के लिये कुछ समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो सहज स्वभाव से ही यह सब कुछ करता है।

कई बार इन सब उच्च विचारों के आधार पर यह सब कुछ दान पुण्य आदि करते हुए भी हम भीतर ही भीतर भार अनुभव

कर रहे होते हैं जब कि बाहर से यह सब सहज स्वभाव से हम कर रहे हैं, ऐसा हम प्रदर्शित कर रहे होते हैं।' परन्तु बच्चा यह सब कुछ अपने नानाविध तर्क-वितर्कों को हृदय में लिए हुए नहीं करता, वह तो जो कुछ करता है सब सहज स्वभाव से ही करता है। हम जब कोई शुभ कार्य-सेवा, दान, पुण्य आदि कर रहे होते है तो हमें यह भीतर से प्रतीत हो रहा होता है कि हम कोई ऐसा कार्य कर रहे हैं जो लोकोत्तर है। इस अपने कार्य के कारण से ही हम अपने को औरों की अपेक्षा कुछ उच्च स्तर का भी अनुभव कर रहे होते हैं। परन्तु विद्यार्थी काल में मैंने ऐसा देखा कि जिस सेवा आदि के कार्य को देखकर अन्य सब छात्र बन्धु खिजते और झुंझलाते थे उसी कार्य को एक ऐसा छात्र बन्धु भी था जो हँसते-हँसते सहज स्वभाव से कर डालता था, यह कह कर, कि "इस कार्य में रखा ही क्या है, जो तुम इतने परेशान होते हो।" मुझे उस छात्र बन्धु के साथ अपनी पर्याय लगाने में विशेष प्रसन्नता होती थी, इसलिए नहीं कि वह कार्य बहुत करता था बल्कि इसलिए कि उन शुभ कर्मों को करते हुए उसको अपने मन पर दबाव नहीं डालना पड़ता था। वह ये सब कार्य सहज स्वभाव से करता था। वह सरसता से ये सब कार्य करता था, खिन्न मन होकर वह कोई कार्य नहीं करता था। वह जब कोई शुभ कार्य करता था तो वह यह नहीं सोचता था कि "मैं एक बहुत अच्छा कार्य कर रहा हूँ इसलिए मैं अन्य सब विद्यार्थियों की अपेक्षा कोई विशिष्ट विद्यार्थी हूँ।" वह अपने कार्य को सम्भालकर करता था, हँसते-हँसते करता था। ऐसा करते हुए वह अपनी अपेक्षा दूसरों को हीन नहीं समझता था। वह यह सब कुछ इसलिए भी नहीं करता था कि ऐसा करने

पर उससे उसके गुरुजन प्रसन्न होंगे और औरों की अपेक्षा उसको अधिक स्नेह एवं महत्व देंगे इत्यादि। ऐसे ही उसके कुछ विशेष गुण थे जिनसे प्रभावित हो कर ही मैं उनके साथ अपनी पर्याय लगाने का प्रयास करता था। उनके साथ कार्य करते हुए जहाँ मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती थी वहाँ मुझे उनकी भीतरी इन सद्वृत्तियों से भी बराबर प्रेरणा मिलती रहती थी, जिसके परिणाम स्वरूप उनके साथ लगे-लगे मैं मन में बिना विकल्पों के आये हुए सहज स्वभाव से बहुत अधिक कार्य कर जाया करता था। इतना ही नहीं मैं उनके कार्य को भी अपना कार्य समझकर करने में सुख अनुभव करता था। उनके प्रति मेरे हृदय में हार्दिक स्नेह और श्रद्धा थी। मैं उनके सहज स्वभाव से सदा सुखी और प्रसन्न रहने पर भी उन्हें अपने हृदय से सुखी रखने का हार्दिक प्रयास करता था।

तो मैं बता रहा था कि बच्चा भी यह सब सोच-विचार कर, आगा पीछा देख भाल कर समर्पण नहीं करता वरन् वह तो उस छात्र सम सहज स्वभाव से सब कुछ करता है। एक बच्चे को मैं देखता हूँ कि उस के घर में विवाह है, उस के पास एक जोड़ा नए वस्त्र हैं शेष सब धुले-धुलाये हैं, तो उसे माँ कहती है, 'बेटा! परसों घर में विवाह है, ये नए वस्त्र तू आज पहनकर खराब कर देगा तो परसों क्या पहनेगा? इत्यादि"। बच्चा कहता है "मैं तो आज ही ये वस्त्र पहनूंगा"। वह अपनी हार्दिक वाणी से माँ को मानो कह रहा है, कि "माँ यह मैं क्यों कर सोचूं कि मैं परसों क्या पहनूंगा। मुझे तो आज ये पहना दे, परसों की चिन्ता तू स्वयं करती रह कि मैं उस दिन क्या पहनूँगा।" बच्चा माँ के प्रति इतना समर्पित है, इतना दृढ़ उसको विश्वास है कि माँ परसों

जो वस्त्र पहनायेगी वह भरसक प्रयत्न करेगी कि वे वस्त्र इन से भी बहुत बढ़िया हों। माँ पर बच्चे को इतना भरोसा है, इतना विश्वास है कि वह अपने सब व्यवहारों के माध्यम से यह कहता रहता है कि "माँ तू परसों की बात करती है, मैं तो तेरे रहते हुए आज शाम की चिन्ता भी नहीं करता।" इस विषय में वह मस्तिष्क लगाता ही नहीं। उसके सरल हृदय में माँ के प्रति एक स्वाभाविक विश्वास है, इसीलिए तो परसों की बात तो क्या कहनी आज सायम् की भी वह नहीं सोचता। बच्चे को अपनी परसों वाली पोजीशन की जरा भी चिन्ता नहीं, जिस में कि सभी लोग विवाह में आयेंगे और उसके वस्त्रों को देखेंगे, पर माँ को तो उसकी परसों की समयोचित सज–धज की बराबर चिन्ता लगी हुई है।

बच्चा माँ के रहते हुए अपने आने वाले प्रातः कालीन कार्य–क्रमों या खाद्य–पेय–वस्त्र वा खिलौनों आदि के लिए भी कभी सजग नहीं रहता, तभी तो वह चैन की नींद सोता है, निश्चिन्तता की नींद सोता है। पर हम को उस परम माँ पर–उस परम प्रभु पर इतना विश्वास कहाँ! हमारा हृदय तो ऐसा है जिस में प्रायः श्रद्धा उद्‌बुद्ध होती है, विश्वास भी उत्पन्न होता है पर हम उनको पीठ पीछे रख देते हैं, और बुद्धि से सदा सोचते रहते हैं कि "फलाँ संन्यासी के पास धन नहीं था तो अन्तिम जीवन में बड़ी दुर्दशा हुई, अतः पैसा अवश्यमेव पास रखना चाहिए। अमुक के पास धन था तो सेवा करने वाले भी बहुत अच्छे व्यक्ति मिले इत्यादि। ऐसे हम मन में वित्त के महत्व की स्थापना कर–कर के "प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, आदि द्वारा धन के खूब संग्रह का प्रति–पादन करते हुए कहते हैं, कि यदि हम ऐसा करेंगे तो अमुक के

समान सेवा आदि भी अच्छी तरह से हो जायेगी, पुत्र एवं पुत्रवधुएं भी सदा आगे पीछे घूमते रहेंगे, हर जगह मान–सम्मान मिलेगा, किसी आश्रम आदि में रहेंगे तो वहाँ कुटिया आदि भी बढ़िया मिल जायेगी और दान आदि करने से तो और भी सब सिर आँखों पर बिठाये रखेगें। जैसे कि अमुक को यह सब मान-सम्मान आदि मिलता है। अतः हमें वित्तं के प्रति सदा सतर्क रहना चाहिए। वैधर्म्य से हम धन आदि नहीं रखेंगे तो हमारी इस संसार में सद्गति नहीं वरन् दुर्गति होगी, जैसी कि अमुक की हो रही है। अतः धन खूब रखना चाहिए वह भी अपने नाम पर...... ।"
इस प्रकार हम धन के प्रति अधिक आसक्त होते जाते हैं और प्रभु के प्रति हमारा सामान्य सा विश्वास रह जाता हैं।

इसी प्रकार बच्चा भी जब हृदय के स्थान पर बुद्धि से कार्य लेना आरम्भ कर देता है तो वह परसों के लिए तो क्या आज सायं को भी किसी की 'वरयात्रा' में जाना है तो उसके लिए भी वस्त्र प्रैस करवाने या धोबी से किराये पर बढ़िया वस्त्र आदि लाने के लिये बुद्धि लड़ाने लगता है। अपनी कापी, लेखनी, पुस्तक वा वस्त्रों आदि के प्रति ज्यों–ज्यों वह सतर्क होने लगता है, स्वयं बुद्धि से ज्यों-ज्यों सब साधनों के लिए सजग होता जाता है, त्यों–त्यों उसकी माँ उससे दूर होती जाती है और उसके प्रति निश्चिन्त होती जाती है। अतः उस प्रभु की गति हमारी ओर नहीं हो सकती, क्योंकि हम उस पर विश्वास नहीं करते। आपत्ति आने पर जो विश्वास हमें अपने धन पर है–बैंक बैलेंस पर है वह प्रभु पर नहीं है। तभी तो हम धन के अभाव में अपनी जितनी दुर्गति की सम्भा–वना करते हैं उतनी प्रभु के विश्वास के अभाव में हम अपनी दुर्गति

का एहसास नहीं करते, जबकि हमारी जितनी दुर्गति प्रभु की अनुभूति के अभाव में होती है उतनी दुर्गति संसार की किसी भी वस्तु के अभाव में नहीं होती। इस विषय में साधनाशील महानुभावों के अपने कटु अनुभव हैं। और वे अनुभव भी ऐसे दिव्य अनुभव हैं जो कि मानव को झकझोर कर रख देते हैं, उसके हृदय के कपाट खोल के रख देते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी हम प्रभु के अभाव में अपनी दुर्गति का इतना अनुभव नहीं करते जितना कि धन के अभाव में, यह तथ्य है। पर इधर हम संसार में देखते हैं कि बालक की धन-वस्त्र स्थान आदि के बिना उतनी दुर्गति नहीं होती जितनी कि उस की माँ के अभाव में होती है। ऐसी घटनायें संसार में कम नहीं है कि धन वैभव पर्याप्त होता है, पर यदि माँ नहीं होती है तो बच्चों की दयनीय दशा होती है। वस्त्रों की कमी नहीं, तैल-साबुन की कमी नहीं, पर बच्चे को कौन नहला-धुला कर साफ-सुथरा करे?··· इस के विपरीत कपड़े बहुत सस्ते हैं, धन के अभाव में तैल-साबुन भी नहीं है, पर माँ है तो बेटा साफ-सुथरा है।

ऐसे ही जिन मनुष्यों के समीप धन-वैभव पर्याप्त होने से वस्त्र तैल साबुन आदि साधन बहुत होते हैं-पर फिर भी वे भीतर से निर्मल न हो कर सदा मैले रहते हैं, अपवित्र रहते हैं, उस परम माँ के अभाव में, पर इसके विपरीत जिन साधकों के पास ये सब साधन नहीं होते, पर उन को उस परम माँ का संरक्षण प्राप्त होता है तो वे ऐसे पवित्र होते हैं, ऐसे निर्मल होते हैं, ऐसे शुद्ध-पवित्र, साफ-सुथरे होते हैं कि सब देखते हुए नहीं अघाते। अतः उस परम माँ का पर्याप्त चिंतन करो, उस प्रभु का पर्याप्त मनन करो, इन सामान्य वस्तुओं

की इतनी अधिक चिन्ता नहीं करो। उस माँ को, उस परमपिता परमेश्वर को अपने प्रति गतिशील बनाने के लिये, अपने प्रति सदा सचिंत-जागरूक करने के लिये अपने को कल की तो क्या आज सायं तक की चिंताओं से भी मुक्त करना होगा, तभी हम सुख की नींद सो सकेंगे। जब तक बच्चा निश्चिन्त होकर सोता है माँ सचिन्त होकर उस के लिये सोती है वा सोचती है। रात्रि को उस के उज्जवल भविष्य के सुन्दर-सुन्दर और मधुर-मधुर स्वप्न लेती है। जब वह बच्चा स्वयं अपने लिये मधुर-मधुर स्वप्न लेना आरम्भ कर देता है तब माँ उस के प्रति निश्चिन्त हो जाती है। तब वह उस की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करती। ऐसे समर्पित बालक के हर शत्रु से, हर हानिप्रद तत्त्व से माँ सदा सतर्क रहती है जिस से बच्चे को हानि वा कष्ट की सम्भावना होती है। ऐसे ही जब भक्त प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करता है तो परम माँ (परम पिता परमेश्वर) उसके प्रत्येक उन काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष आदि शत्रुओं के प्रति पूर्ण सतर्क रहती है और उन से उस बालक को बचाने का पूर्ण प्रयास करती है जिनसे बालक को-प्रिय साधक को हानि वा कष्ट की सम्भावना होती है।

उपर्युक्त प्रकार से वह प्रभु तो हमारा भली-भाँति रक्षण-संरक्षण करता ही है, परन्तु इस मन्त्र पर यदि यों विचार करें कि इन महान् काम, क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश के लिए उस का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से हम उस प्रभु के प्रति अपने आप को गतिशील बनाते हैं तो वह हमारी 'इस में कोई सन्देह नहीं, कि पर्याप्त सहायता करता है, पर हम फिर भी अपनी हर आपत्ति-विपत्ति में प्रायः धन का, मित्रों का, बन्धु-बान्धवों का, सरकारी

अफसरों का जितना आह्वान करते हैं उतना उस प्रभु का नहीं जो उस प्रभु का आह्वान करते हैं उन की रक्षा का सारा का सा भार वह अपने ऊपर ले लेता है। हम प्रायः यही समझ रहे हों हैं कि धन होगा तो हमारी चिकित्सा हो सकेगी, धन होगा तो हमा मकान बन सकेगा, अर्थ होगा तो हमें अच्छी से अच्छी कुटिया मि सकेगी, पैसा होगा तो अच्छी दवा मिल सकेगी, पैसा होगा त अच्छे से अच्छा-योग्य से योग्य वैद्य-हकीम-डाक्टर आयेगा, बन्धु बान्धव आयेंगे और अपने प्रति अच्छे से अच्छा व्यवहार करेंगे यह सांसारिक ढङ्ग का चिन्तन है, इस से प्रभु आवर्जित होक रक्षा नहीं करता। इन व्यवहारों से तो केवल बन्धु-बान्धव, मित्र परिचित एवं सामाजिक व्यक्ति ही सहायक बन कर हमारे सम आते और हमारे प्रति यथा सम्भव अच्छे से अच्छा व्यवहार क हैं। वह भी तब जबकि हमने उन के प्रति कुछ अच्छा व्यवह किया हुआ होता है या उन को कुछ हम से प्रायः आशा होती है पर साधकों का यह कार्य कहाँ जो प्रभु को अपने प्रति गतिशी बनाना चाहते हैं, वे तो प्रभु से ही अपने पूर्ण सहयोग की काम करते हैं, जैसे संसार में जहाँ सुग्रीव ने जब अपनी समस्या के सम्मु अपने को अशक्त अनुभव किया वहाँ उन्होंने सशक्त मर्यादा पुरुषोत्त राम का आश्रय लिया और अर्जुन ने योगेश्वर श्रीकृष्ण का आश्र लिया और फिर वे उन की छत्र-छाया में निश्चिन्त हो गये, ऐ ही भक्त भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण कर उसी का आश्रय लेता है।

ऐसे आध्यात्मिक दृष्टि से जब हम बहुत बड़े-बड़े काम, क्रो आदि शत्रुओं से सदा पिटते रहते हैं तो हम फिर प्रभु से प्रार्थ

करते हैं कि वह इन शत्रुओं के विनाश में हमारा पूर्णरूपेण सहायक हो। ऐसी प्रार्थना करने पर भी वह हमारा सहायक नहीं बनता। इसीलिए हम उदास हो जाते हैं, निराश हो जाते हैं, हताश हो जाते हैं।

सुग्रीव को श्री राम ने कहा–'तुम लड़ो मैं तुम्हें सहयोग दूंगा। पर प्रथम दिवस बाली के साथ युद्ध में सुग्रीव की हड्डी–हड्डी व जोड़–जोड़ टूटने लगे तो वह राम के समीप रोते हुए आया और बोला, कि "आप ने कुछ भी नहीं किया जबकि मैं केवल आप के ही आश्रय पर लड़ा ।" तब राम ने उसे धीर बन्धाई और कहा कि 'घबराओ नहीं, तुम लड़ो वीरता से, मैं तुम्हारा अवश्य सहयोग करूंगा।' सहयोग तो मैंने पूर्व भी किया था पर तब मेरा निशाना ठीक नहीं बैठा था। दूसरे दिन के युद्ध में राम ने बाली को समाप्त कर दिया। ऐसे ही अर्जुन ने श्रीकृष्ण का आश्रय लिया और उन्होंने प्राण–पण से उस का सहयोग किया। ऐसे ही प्रभु भी समर्पित भक्त की सब प्रकार से सहायता करते हैं।

जब हम स्वयं पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए भी उसी के आधार पर अपनी विजय मानते हैं तो तब वह हमें दिव्य उत्साह देता है, सहयोग देता है तब कहीं हम अपने इन आन्तरिक आध्यात्मिक युद्धों में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार जब हम चित्तरूपी भूमि से झाड़–झंकाड़ रूप काम–क्रोध आदि शत्रुओं को निकाल देते हैं तो हमारी चित्त रूपी भूमि साफ और कोमल हो जाती है।

'वृषभः' का अर्थ बैल होता है जैसे वह गौ में बीजारोपण करता है और उसे हरी–भरी अर्थात् सन्तानों वाली, बछड़ों वाली बना देता है, ऐसे ही वह 'वृषभः'–इन्द्र सद्गुणरूपी बीजों का

आरोपण करने वाला परमेश्वर हमारी सुन्दर कोमल चित्तरूपी भूमि में सद्गुणों के बीजों को बोता है और साथ ही वह उस पर "वृषा" होने से कृपा वृष्टि करता है तो तब हमारी चित्तरूपी भूमि हरी-भरी हो कर लहलहाने लगती है और चहुँ ओर सुगन्ध एवं प्रसाद को फैलाती है। अपनी चित्तरूपी भूमि की यह अवस्था देख कर आत्मा फिर फूला नहीं समाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है। यही जीवन का लक्ष्य है। क्योंकि जब सुखों की वर्षा करने वाली परम माँ-परम पिता परमेश्वर का दिव्य संरक्षण प्राप्त हो तो उस के संरक्षण में हम अपने शत्रुओं का विनाश करके प्रभु की कृपा से सद्गुणों के बीजों को हरा भरा देखने में समर्थ हो सकते हैं।

वह "वृषभ"–इन्द्र सद्गुणों के बीज बोता है और साथ में वर्षा कर के उस भक्त की चित्त रूपी भूमि को हरा-भरा करता है। अब जैसे लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों के अन्न और फल-फूलों से सम्पन्न उद्यानों को कोई श्रेय देता है तो लहलहाते हुए अं र अपनी सुगन्ध फैलाते हुए वे उद्यान इस सब का श्रेयः सूर्य, मेघ, वायु एवं धरती आदि को प्रदान करते हुये कहते हैं कि–"हे भोले मानवो ! तुम हमारा गुणगान मत करो, वरन् उस सूर्य, चन्द्र, मेघ, वायु, धरती एवं पुरुषार्थी कृषक आदि का गुण-गान करो जिन की कृपा से आज हम हरे-भरे हैं, फूले-फले हैं, खिले हुये हैं। सभी घ्राण वाले उन की सुगन्ध को, उन की महक को अनुभव कर सकते हैं। इसी प्रकार जब प्रभु की कृपा से हरी-भरी चित्तरूपी भूमियों वाले साधक अपने दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों से अपने चहुँ ओर के वातावरण को

सुगन्धित करते हैं तो सब उन का गुणगान करने लगते हैं। पर वे सब साधक – आध्यात्मिक जन उस सब का श्रेय उस परम पिता परमेश्वर को ही देते रहते हैं। यही उन का अपने प्राणों से भी प्यारे प्रभु के प्रति दिव्य कृतज्ञभाव है जो और भी उन को सदा आनन्द विभोर किये रहता है।

प्रभो ! हम अमरत्व को प्राप्त करें—

ओ३म् यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम ॥
ऋ० ५-४१-१० ॥

अन्वयः—यः मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमानः कीरिणा हृदा जोहवीमि । जातवेदः ! प्रजाभिः अस्मासु यशः धेहि । अग्ने ! अमृतत्वमश्याम ।

अन्वयार्थः-(यः मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमामः) जो मैं मरणधर्मा मनुष्य तुझ को अमरणधर्मा मानता हुआ (कीरिणा हृदा जोहवीमि) स्तुतिमय हृदय से पुनः पुनः पुकारता हूँ। (जातवेदः ! प्रजाभिः अस्मासु यशः धेहि) हे सर्वज्ञ ! हे वेदोत्पादक ! हे कण-कण में विद्यमान रहने वाले भगवन् ! प्रजाओं के द्वारा हमें यश प्रदान कर, (अग्ने ! अमृतत्त्वम् अश्याम) हे प्रकाशस्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रभो ! हम अमृतत्त्व–मोक्ष को प्राप्त होवें ।

मनुष्य मर्त्य है, मरणधर्मा है, नश्वर है, अनित्य है और भगवान् अमर्त्य है, अमरणधर्मा है, अविनाशी है, अविनश्वर है, नित्य है। यह सत्य, यह तथ्य, जब मनुष्य को ज्ञात हो जाता है तो तब वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझने लगता है। और फिर वह कहने लगता है कि "वास्तव में मैं मर्त्य हूँ. मरणधर्मा हूँ, विनाशी हूँ, नश्वर हूँ, अनित्य हूँ।" उस को तब यह स्पष्ट भासने लगता है कि सदा उसकी एक सी स्थिति न रही है और न रहेगी। कभी

वह बच्चा था, कभी जवान था, कभी प्रौढ़ था और अब बूढ़ा है। जब बचपन नहीं रहा, जवानी नहीं रही, प्रौढ़ अवस्था नहीं रही तो यह बुढ़ापा भी अब क्या रहेगा! अतः एक दिन इसका भी अन्त होगा और जब इसका अन्त होगा तो मेरा '[1]भस्मान्त' होगा।

मनुष्य को जब अपनी इस अस्थिर अवस्था का, इस क्षण-भंगुरावस्था का, इस नश्वरावस्था का, इस अनित्यावस्था का सही रूप से बोध होने लगता है तो फिर यह मर्त्यः किसी अमर्त्य का, यह मरणधर्मा किसी अमरणधर्मा का, यह विनाशी किसी अविनाशी का, यह अस्थिर किसी स्थिर का, यह विनश्वर किसी अविनश्वर का आश्रय लेना चाहता है, किसी अचल का पल्ला पकड़ना चाहता है, किसी निश्चल का सहारा लेना चाहता है।

ऐसी अवस्था में जब वह अपने चहुँ ओर देखता है तो उसे अपने सहित सारे के सारे ही मर्त्य दिखाई देते हैं, अस्थिर और नश्वर दिखाई देते हैं। उसे एक-एक करके नित्य प्रति सब के सब यमराज के मुख का ग्रास बनते हुए दिखाई देते हैं। तब वह इस चलाचली के संसार में किसी अचल को ढूण्ढता है, इस गमनागमन के संसार में किसी निश्जल सत्ता को जानना चाहता है, इस अस्थिर लोक में किसी स्थिर सत्ता को तलाश करता है, इस अनित्य संसार में किसी नित्य तत्त्व को खोजना चाहता है। जहाँ भी ज़रा उसको इस अविनाशी तत्त्व का थोड़ा सा ज्ञान होने लगता है वहाँ वह

---

१. 'भस्मान्तं शरीरम् यजु० ४०-१५' यह मेरी अनित्यता है, नश्वरता है कि मैं सदा शरीर में नहीं बना रह सकता। वैसे तो आत्मा जीव-नित्य है ही।

उस तत्त्व के सम्बन्ध में और अधिक से अधिक स्वाध्याय करने लगता है, और अधिक से अधिक श्रवण करने लगता है, और अधिक से अधिक मनन–चिन्तन और निदिध्यासन करने लगता है। निदि–ध्यासन करता हुआ वह उसकी श्रद्धा भक्ति से स्तुति-प्रार्थना उपा–सना करता है, उस को बड़े उत्साह और उमंग से वह स्मरण करता है, पुकारता है। वेद के शब्दों में वह यों कहने लगता है– 'यः मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमानः कीरिणा हृदा जोहवीमि'–'मैं अस्थिर–विनाशी तुझ को स्थिर–अविनाशी परम–परमेश्वर मानता हुआ अनुरागपूर्ण हृदय से, स्तुतिपूर्ण हृदय से पुनः पुनः अतिशय करके पुकारता हूँ। केवल पुकारता ही नहीं हूँ वरन् तुझ से कुछ माँगता भी हूँ" वह क्या ? "वह यह कि—

"जातवेदः ! प्रजाभिः अस्मासु यशः धेहि"–'हे सर्वज्ञ ! हे वेदों को संसार के कल्याण के लिये उत्पन्न करने वाले ! हे कण–कण में विद्यमान रहने वाले प्यारे प्रभो ! तू हमें यश प्रदान कर, तू हमें प्रजाओं के द्वारा भी यश प्रदान कर।"

मरणधर्मा भक्त प्रभु से यह प्रार्थना करता है 'कि वह कण–कण में विराजमान प्रभु हमें संसार में यश–प्रदान करे. केवल हमें अपने गुण कर्म–स्वभावों से ही नहीं वरन् अपनी प्रजाओं–पुत्र पौत्रों के माध्यम से भी यश प्रदान करे, शिष्यों के माध्यम से भी यश प्रदान करे।

संसार में यश-कीर्ति वा स्नेह–सहानुभूति, मान-सम्मान आदि ऐसी प्रिय चीजें हैं जिन को पाकर मनुष्य संसार में हर प्रकार से प्रसन्न रहता है और सहज स्वभाव से स्वस्थ, सुखी रहता है भले ही फिर उस का भोजन वस्त्र स्थान आदि सामान्य ही क्यों न हों,

पर इस के विपरीत भोजन, आच्छादन, स्थान आदि कितने भी सुन्दर क्यों न हों पर पग-पग पर अवहेलना, अपमान, तिर-स्कार आदि होता रहे तो मनुष्य कुम्हलाने लगता है, दुःखी रहने लगता है, शनैः शनैः तन-मन आदि से शिथिल होने लगता है, यहाँ तक कि वह सब ओर से आधि-व्याधियों से घिरने लगता है……। इसलिये हर प्राणी के लिये यश, प्यार, मान, सम्मान आदि बड़ी आवश्यक वस्तुएं हैं, क्योंकि यह उस को सदा तरो-ताजा, हरा-भरा रखती हैं। परन्तु हम मर्त्य-मनुष्य यदि उस अमर्त्य-अविनाशी परमेश्वर से यश कीर्ति आदि के लिये केवल प्रार्थना करने लगें, और उसके लिये कुछ कर्त्तव्य का पालन न करें तो प्रभु भला कैसे हमें यश दे देगा ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमें यश मिलेगा, कीर्ति मिलेगी, सहानुभूति मिलेगी, स्नेह मिलेगा, मान मिलेगा, सम्मान मिलेगा, पर कब ? जब कि हम उस अमर्त्य अविनाशी परम पिता परमेश्वर की प्रेरणाओं का, वेदगत आज्ञाओं का श्रद्धा भक्ति से उत्साह-पूर्वक पालन करेंगे। हम वेदानुसार जब अपने कर्त्तव्यों का, अपने उत्तरदायित्वों का, अपनी सन्तान आदि के प्रति मन-वचन-कर्म से पालन करेंगे तो जहाँ वह अमर्त्य प्रभु हमें पग-पग पर, कदम-कदम पर उसके माध्यम से यश देगा, प्यार देगा, स्नेह देगा, सहयोग देगा, मान-सम्मान देगा, वहाँ अपनी ही इन सन्तानों के माध्यम से अपनी ही इन शिष्य प्रशिष्य रूप परम्पराओं के माध्यम से भी वह हमें यश, प्यार, मान-सम्मान आदि प्रदान करेगा।

इस प्रकार यह निश्चित है कि प्रभु की वेदाज्ञा के अनुरूप एवं हृदयस्थ प्रभु प्रेरणा के आधार पर जीवन में आचरण करने

पर सर्वत्र हमें स्नेह, सम्मान, यश एवं आवभगत मिले, सर्वत्र हमें सब सिर पर उठाए-उठाए फिरें और हम भी यश-कीर्ति, मान-सम्मान, सेवा-सत्कार और वाह-वाही में ऐसे मग्न हो जायें, ऐसे डूब जायें कि अपने वास्तविक लक्ष्य को ही हम भूल जायें, इसलिये यह मर्त्य-यह भक्त मनुष्य अपने को मरण धर्मा मान कर अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक होकर प्रार्थना करता है—

"अग्ने अमृतत्वमश्याम"-हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे ज्ञान के अद्वितीय स्रोत भगवन्! हम इस जगत् में उपलब्ध होने वाले 'यश' आदि में कभी इतने मग्न न हो जायें, कभी इतने डूब न जायें कि हमें इसके अतिरिक्त कुछ और दिखाई ही न देने लगे, वरन् हम तो उस 'यशोमय' सरोवर में कमल की भान्ति जल में रह कर भी सदा जल के ऊपर तेरते हुए तेरे पावन प्रकाश में वर्तमान रहते हुए सदा खिले रहें, आनन्द से विभोर रहें, सब प्रकार से परितृप्त रहें, और अन्त में हम यों विचार और आचरण करें—

जगत् में हम जब तक रहें अपने को मर्त्य समझते रहें, सदा यह सोचते-विचारते रहें कि "एक न एक दिन हमें यहाँ से जाना है" ऐसी दशा में फिर यह हमारा शरीर भी तो हमारा नहीं रहेगा, ये हमारी इन्द्रियाँ भी तो फिर हमारी नहीं रहेंगी, इस जमीन-जायदाद, धन-वैभव कार-कोठी, पुत्र-कलत्र की तो बात ही क्या कहनी! ऐसी अवस्था में हम मर्त्यों को चाहिए कि हम अपने को मर्त्य जानकर किसी अमर्त्य का पल्ला पकड़ें। जब हम मर्त्यों को उस अमर्त्य का, उस अक्षर का, उस अविनाशी का कुछ ज्ञान हो जाय तो उसे मानते हुये, बुद्धि से स्वीकार करते हुये, उस पर हृदय से श्रद्धा और विश्वास करते हुए उस परम प्रभु को हार्दिक टीस

के साथ धारण करने के भाव से उसकी स्तुति–प्रार्थना–उपासना करते हुए उसे पुनः पुनः, अतिशय करके खूब पुकारें, हृदय की तड़प के साथ उस का स्मरण करें, उस का आह्वान करें, ऐसे कि जैसे उस के बिना हमारा रहना सम्भव नहीं हो रहा हो! किस लिये? इसलिये कि वह प्रभुदेव हमें प्रजाओं के साथ–साथ, सन्तान के साथ–साथ (यशो वै अन्नम्) अन्नादि साधन अर्थात् खाद्य एवं पेय पदार्थ प्रदान करे। फिर हम उन सन्तानों का उस प्रभु के नेतृत्व में ऐसा उत्तम पालन-पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण करें, और उन को जगत् में ऐसा उत्तम बनाकर खड़ा करें कि जिससे हमें स्थान – स्थान पर यश मिले, प्रशंसा मिले । अथवा वह "जातवेदाः" सभी प्रकार के वे सब धन अन्नादि प्रदान करने वाला ज्ञान–ध्यान का प्रकाश करने वाला, कण–कण में वर्तमान रहने वाला सर्वव्यापक प्रभुदेव हमें प्रजाओं द्वारा भी यश प्रदान करे। अर्थात् हम उस प्रभु प्रदत्त धन-अन्न आदि का वेदानुसार वा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणानुसार ऐसा सदुपयोग करें कि हमें परिणाम में सबसे स्नेह सम्मान, यश-कीर्ति मिले। बड़ों से हमें साधुवाद मिले, आशीर्वाद मिले, प्यार मिले, छोटों से मान मिले, सम्मान मिले आदि। परन्तु अपने कार्यों के आधार पर मिलने वाले इन मान–सम्मानों में, इन स्वागत–सत्कारों में, इन सेवा शुश्रूषाओं में, इन भेंट-पुरस्कारों में फंसकर कभी हम अपने अन्तिम उद्देश्य को, अपने परम लक्ष्य को भूल न जायें। अर्थात् इस यश–कीर्ति आदि में कहीं हम ऐसे डूब न जायें कि हमारा चरम लक्ष्य ही हम से ओझल हो जाय। हम तो इन सब यश–कीर्ति, मान–सम्मान आदि को प्राप्त करते हुये भी अपने लक्ष्य के प्रति सदा जागरूक बने रहें, और

आपकी शरण में आकर पुरुषार्थ पूर्वक यह प्रार्थना करें–"अग्ने अमृतत्वमश्याम" हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! हम तुझ को अपना सच्चा नेता मानकर तेरे पावन नेतृत्व में इस संसार में जहाँ यश पावें वहाँ मोक्ष को भी प्राप्त कर सकें, ऐसी हमें शक्ति और भक्ति प्रदान करो।"

जो भी इस संसार के इस मान–सम्मान में न फँस कर–इस सेवा–सत्कार में न डूब कर अपने जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति सदा सजग रहता है, उसे फिर भगवान् वह प्रसाद देता है, वह तृप्ति देता है, वह आनन्द देता है कि जिस के सम्मुख यह सब कुछ तुच्छ भासता है, नगण्य लगता है। अतः अन्तिम उद्देश्य के प्रति भक्त को सदा सजग रहना चाहिए।

इस अनित्य संसार में नित्य प्रभु का ध्यान कर

ओ३म् अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥ यजु० ३५.४॥

अन्वयः—अश्वत्थे वः निषदनं, पर्णे वः वसतिः कृता। गोभाज इत् किल असथ, यत् पूरुषं सनवथ।

अन्वयार्थः-हे जीवो! प्रभु ने (अश्वत्थे वः निषदनम्) अश्वत्थ वृक्ष पर अर्थात् "कल रहेगा वा नहीं ऐसे अनित्य संसार में तुम्हारी स्थिति की (पर्णे वः वसतिः कृता) फिर अश्वत्थ वृक्ष पर ही नहीं वरन् उस अश्वत्थ वृक्ष के भी अति चंचल पत्ते के तुल्य इस चंचल-अस्थिर जीवन में तुम्हारा निवास किया, तुम्हारा ठिकाना बनाया। इस पर भी आश्चर्य यह है कि (गोभाजः इत् किल असथ) तुम गोभाज अर्थात् केवल इन्द्रियों के भोगों को भोगने वाले ही हो रहे हो (यत्) जब कि तुम्हें चाहिये कि इस अस्थिर जीवन में (पूरुषं सनवथ) तुम स्थिर परम पुरुष परमेश्वर का सेवन करो।

"अश्वत्थे वः निषदनम्"—हे मनुष्यो! हे जीवो! तुम्हें सदा यह ज्ञान और भान होना चाहिये कि अश्वत्थ वृक्ष पर तुम्हारी स्थिति है, तुम्हारा ठिकाना है। अब यहाँ अश्वत्थ क्या है? वैसे अश्वत्थ कहते हैं-पीपल के वृक्ष को, परन्तु यहाँ इस शब्द के रुढ़ि

१' अश्वत्थे-श्वः स्थास्यति न वा स्थास्यति तादृशे अश्वत्थेऽनित्ये संसारे।

अर्थ की अपेक्षा [२]व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अधिक संगत है जो इस प्रकार है–"जो कल नहीं रहे, जो कल नहीं ठहरे"। इस प्रकार इस शब्द का तात्पर्य हुआ कि अश्वत्थ वह प्रकृति रूप वृक्ष है, वह संसार रूप वृक्ष है, जो कल रहे वा न रहे, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए "अश्वत्थे वः निषदनम्" वाक्य का अभिप्राय हुआ कि—

हे जीवो ! हे प्यारे मनुष्यो ! तुम्हारी उस अश्वत्थ–उस संसार रूपी वृक्ष पर स्थिति की गई है, तुम्हारा उस वृक्ष पर ठिकाना बनाया गया है कि जिसके सम्बन्ध में सदा यह सन्देह बना रहता है कि पता नहीं वह कल रहे वा न रहे ! ऐसे अनित्य-अस्थिर संसार रूपी वृक्ष पर रहते हुए यह कैसे समझा जा सकता है कि हमारा ठिकाना सदा बना रहेगा अर्थात् हम सदा बने रहेंगे।

फिर वेद तो और आगे बढ़ कर कहता है कि-"हे मनुष्यो ! हे विचारशील महानुभावो ! यदि तुम्हारा ठिकाना ऐसे अश्वत्थ वृक्ष पर, ऐसे अनित्य संसार रूप वृक्ष पर ही किया गया होता तो भी कुछ तसल्ली की जा सकती थी, क्योंकि इस पीपल के वृक्ष वा अस्थिर संसार रूपी वृक्ष को भी हम देखते हैं कि वह भी सुदीर्घ काल तक प्रायः बना रहता है। अतः उसके कुछ स्थायित्व की सम्भावना की भी जा सकती है। पर आश्चर्य तो यह है कि "पर्णे वः वसतिः कृता" तुम्हारी वसति, तुम्हारा बसेरा, तुम्हारा निवास तो उस अश्वत्थ वृक्ष के उस पत्ते पर बनाया गया है जो संसार के सभी वृक्षों के पत्तों से अधिक चंचल है। हलका सा हवा का

---

२. (अ+श्व+त्थ [स्थ] अ=नहीं, श्वः=कल, स्थ=रहेगा–ठहरेगा। न श्वः स्थास्यतीति–अश्वत्थः।

झोंका आया नहीं कि वह हिला नहीं। और जहाँ वह हिला नहीं कि उस पर जिस ओस के बिन्दु का ठिकाना है, वह गिरा नहीं। अब भला सोचो ! जिस ऐसे वृक्ष के अति अस्थिर-चंचल-डावाँडोल वृक्ष के पत्ते पर ओस के कण का जो वसेरा है ! ऐसे ही वेद कहता है-हे जीवो ! हे निरन्तर जीने की आकांक्षाओं वाले मनुष्यो ! हे निरन्तर बने रहने की अभिलाषाओं वाले लोगों ! तुम्हारा भी इस अश्वत्थ, कल जाने रहेगा या नहीं रहेगा, ऐसे अनित्य संसार रूपी वृक्ष के भी इन अति अस्थिर पर्ण रूप शरीरों पर प्रभात काल की ओस की बून्दों के समान तुम्हारा बसेरा-तुम्हारा ठिकाना बनाया गया है, तो फिर भला कैसे तुम सदा स्थिर बने रहने का सोच सकते हो !

हम इस संसार में सदा देखते हैं कि जब जहाँ जरा हवा का झोंका आया नहीं कि वहाँ अश्वत्थ अतिचंचल वृक्ष के पत्ते पर वर्तमान प्रभात की ओस की बून्द के समान इस अनित्य संसार रूपी वृक्ष के अति अस्थिर शरीर रूपी पत्ते पर विराजमान यह जीव गिरा नहीं, यहाँ से हटा नहीं और यह मनुष्य मरा नहीं ! अब यदि कहीं दुर्भाग्य वश यह वायु आन्धी के रूप में चल पड़ी तो अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते पर पड़ी हुई ओस की बून्द का तो क्या कहना, वहां तो वृक्ष का पत्ता ही ऐसा उड़ जाता है कि फिर उसका कहीं पता ही नहीं चल पाता। ऐसे दृश्य संसार में प्रायः देखने को मिलते ही हैं कि जहाँ अपने सम्बन्धी-मित्र-परिचित के शरीर रूप पत्ते पर पड़ी ओस की बून्द के समान उस जीव का तो क्या कहना, उस पत्ते के समान उसके शरीर का, लाश का भी फिर कहीं पता नहीं चल पाता। जलियाँ वाले बाग आदि के भयं-

कर काण्डों के उपरान्त टार्च और लालटेन रात को घुमा-घुमा कर अपने-अपने मित्र-परिचित वा बन्धु-बान्धव की लाश भी कई न पा सके इत्यादि...... ।

लगभग डेढ़ दो वर्ष पूर्व जब दिल्ली में एक विचित्र सी आँधी आई थी, एक अजीब सा तूफान आया था तो उसमें वृक्ष के पत्तों पर ओस बिन्दु वा तृणादि की तो क्या चर्चा करें, उसमें तो पत्तों सहित वृक्ष ही ऐसे उखड़-उखड़कर कहीं के कहीं उड़-उड़कर ऐसी-ऐसी जगह जा गिरे कि उनका पता ही नहीं लग सका। और तो और साईकिल, स्कूटर और मोटरें आदि भी अपने सवारों के साथ-साथ उस झञ्जावात में ऐसी उड़-उड़ कर कहीं की कहीं जा गिरीं कि फिर पता नहीं लग सका कि वे कहाँ हैं ? तब उन पर अधिष्ठित सवारियों की तो कथा ही क्या कहें ? ईरान के पिछले वर्ष के भूकम्प के बाद समाचार पत्र में वहाँ का एक दृश्य आया था जिसमें थोड़ी ही देर पूर्व परिवार से कहीं गया हुआ एक पारिवारिक सदस्य जब भूकम्प के उपरान्त जैसे जैसे अपने भवन की ओर आता है तो वह ओस की बून्दों से विहीन पत्तों के समान जीव-विहीन अपने परिवार के सदस्यों के मृत शरीरों को भी नहीं देख पाता है, क्योंकि वहाँ तो उसका सारा गृहरूपी वृक्ष-घर रूप ठिकाना ही ऐसा ध्वस्त हो गया कि वहाँ पर्णरूप शरीरों का-मृत शरीरों का देखना भी सर्वथा दुर्लभ ही हो गया··· । उसी अपने ध्वस्त परिवार रूपी वृक्ष को देख-देख कर वह बुरी तरह रोता हुआ भगवान् को कोसता हुआ कहता है कि या खुदा ! तूने मुझे ही क्यों यह सब कुछ देखने को छोड़ दिया, मुझे भी साथ ही ले लेता तो आज मेरी यह दुर्दशा न होती, मेरी यह पागलों जैसी

दशा न होती ....।

ऐसे अनित्य संसार रूपी वृक्ष पर ऐसे अस्थिर, डावाँडोल पर्ण के समान शरीर पर ओस की बून्दों के समान विराजमान होकर भी हे जीवो ! हे मनुष्यो ! आश्चर्य यह है कि तुम "गोभाजः इत् किल असथ" निरन्तर गोभाज ही बने हुए हो, सतत् इन्द्रियों के भोगों को भोगने में ही रम रहे हो ! और फिर ऐसे उन में रम रहे हो कि तुम्हें इन से आगे बढ़कर कुछ सूझता ही नहीं, इन से आगे बढ़कर कुछ और अधिक भाता ही नहीं, 'यत्' जबकि तुम्हें चाहिए कि तुम (पुरुषं सनवथ) सर्वत्र परिपूर्ण हुए-हुए परम पुरुष परमेश्वर का ही सेवन करो ।

जब तुम्हें इन इन्द्रियों के नाना प्रकार के भोग भोगने से ही अवकाश नहीं तो फिर भला तुम उस परम प्यारे परमेश्वर का ही क्या सेवन करोगे ! उस प्रभु ने तुम्हें एक से एक बढ़ कर स्वादिष्ट पदार्थ प्रदान किए और तुम ने भी वे अनेकों बार जी भर-भर कर खाए, पर फिर भी तुम अद्यपर्यन्त-आज तक उनसे तृप्त नहीं हुए, क्योंकि जब भी तुम्हें हम देखते हैं तो तुम पुनः पुनः उन आस्वाद्य खाद्य एवं पेय पदार्थों पर ऐसे टूटते हो जैसे कि तुम ने कभी कुछ खाया ही न हो, कभी कुछ पीया ही न हो । इतना ही नहीं वरन् इससे भी आगे बढ़कर स्वाद की लालसा से भरपूर तुम्हारा मन एवं तुम्हारी जिह्वा नित नए चस्कों की चाहना करते ही रहते हैं ।

तुमने अगणित अर्थात् गणनातीत सुन्दर से सुन्दर रूपों को इस संसार में निहारा होगा, दिव्य से दिव्य दृश्यों का अवलोकन किया होगा, प्रिय से प्रिय रूप-रंग-तमाशे देखे होंगे परन्तु फिर भी तुम्हारी ये आँखे रीझी नहीं, तुम्हारा यह मन भरा नहीं !

क्योंकि जब कोई नया–रूप–रँग का दृश्य तुम्हारे सम्मुख आता है तो तुम फिर ऐसी ललचाई आँखों से, फिर ऐसी भूखी आँखों से, उसे आँखे फाड़–फाड़ कर देखने लगते हो जैसे कि तुमने कभी कुछ देखा ही न हो।

इन कानों से तुम ने न जाने क्या–क्या सुना होगा ? एक से एक सुन्दर गीत भी इन से सुना होगा, एक से एक सुन्दर एवं मधुर प्रिय वचन भी इन से सुना होगा, नाना–विध निन्दा–स्तुति के प्रसंगों को भी इन से सुना होगा, पर फिर भी न जाने कोई निन्दा-स्तुति की बात आती है वा कोई शब्द तुम्हें आहट सी के रूप में सुनायी देते हैं तो तुम्हारे कान फिर सुनने को सन्नद्ध हो जाते हैं, फिर सुनने को सजग और सावधान हो जाते हैं, न जाने इन सब इधर–उधर की व्यर्थ की बातों को सुन–सुन कर तुम इन में से क्या दूध–घी निकालोगे और उस से क्या अपना हित साधोगे ! यह हमारी समझ में नहीं आता।

तुम्हारी घ्राण ने–नासिका ने न जाने कितनी–कितनी मन भावनी गन्ध–सुगन्धों को सूंघा होगा, पर फिर भी नित्य नई–नई गन्ध-सुगन्धों को सूँघने के लिये तुम्हारा मन और यह नासिका न जाने क्यों सोत्साह और सोमंग अग्रसर होते रहते हैं ? ।

तुम्हारे इस शरीर की त्वचा ने न जाने कैसे-कैसे सुन्दर–सुन्दर मन आँखों को भाने वाले कोमल से कोमल ऊन–रेशम-मखमल आदि के बने हुये असान-वस्त्र और ओढ़ने-बिछाने आदि के साधनों का सेवन किया होगा ! इतना ही नहीं इससे भी आगे बढ़कर तुमने इस त्वचा से अनेकों बार ऐसा-ऐसा स्पर्श सुख पाया

होगा जिस में तुम नख से लेकर चोटी तल तन्मय हो गये होगे, अन्दर–बाहर से एक रूप से हो गये होगे ! और एक बार उसमें तुमको सम्भवतः ऐसा भी प्रतीत हुआ होगा कि "साक्षात् स्वर्ग यही ही है, और इससे आगे बढ़कर भला और सुख–एवं आनन्द हो भी क्या सकता है ?" पर शीघ्र ही इन सुन्दर-सुखद और तन-मन को विभोर कर देने वाले स्वर्गीय स्पर्श सुखों का भी परिणाम तुम्हारे सम्मुख आया होगा तो तब तुम दंग रह गए होगे, चकित रह गए होगे, अवाक् रह गए होगे ?………। परन्तु जब तुम्हें यह होश आने लगा होगा तो तब तुम पर्याप्त लुट चुके होगे, पर्याप्त अनुपम वैभव खो चुके होगे ! पर फिर भी "जब आँख खुल जाये तभी तुम अपनी प्रभात समझो, तभी तुम अपना सौभाग्य समझो-वाली इस कहावत के अनुसार तुम सतर्क हो जाओ ओर विचारने लगो बीते हुए जीवन के दिनों पर, तो तुम्हारे भीतर ही भीतर स्वयं ही ये प्रश्न उठ खड़े होने लगेंगे कि-'क्या वास्तव में इन्हीं सामान्य सुख-सौभाग्यों को भोगने के लिए ही हम इस जगत् में में अवतीर्ण हुए थे या हमारा कोई और भी कुछ विशेष उद्देश्य था ? यदि केवल इसी के लिए ही हम उत्पन्न हुये थे, तो फिर इन पशुओं में और हममें क्या विशेष अन्तर है ?"

यह सब सोचने विचारने पर, स्वाध्याय वा सत्संग आदि निरन्तर करते रहने पर प्रभु कृपा से तुम्हारे भीतर के पट कुछ खुलने से लगेंगे और तब तुम्हें स्पष्ट होने लगेगा कि वास्तव में तुम जगत् में केवल भोगों को भोगने के लिये ही नहीं आये थे वरन् सुमर्यादित भोगों के सेवन से तन-मन को स्वस्थ सुन्दर एवं सशक्त बनाकर योग के आधार पर प्रभु का साक्षात् करने के लिये जगत्

में आये थे। पर दुर्भाग्य यह रहा कि तुम निरन्तर बहिर्मुखी होकर इन एन्द्रियक विषय भोगों में ऐसे रम गये कि इन इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके प्रभु के साक्षात्कार करने का अवसर तो दूर रहा ऐसे विचार मात्र करने का भी तुम्हें अवसर न मिला ....।

वास्तव में हुआ यह कि जब तुम नें इस संसार में अपने को अकेला समझा, अधूरा समझा, अपूर्ण अनुभव किया, तो तुम्हारा जी नहीं लगा। तब तुमने अपने अकेले पन को दूर करने के लिए, अपने अधूरे-पन को पूर्ण करने के लिए विवाह कर लिया, यह सोच कर कि अब तुम्हारा अधूरा पन दूर हो जायेगा और तुम सब प्रकार से पूर्ण हो जाओगे। इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि नारी के आते ही नर पूर्ण होता है, पत्नी के आते ही पति पूर्ण होता है, भार्या के आते ही भर्त्ता पूर्ण होता है। अतः अब उद्‌वाह करने पर तुम्हारा अकेलापन-अधूरापन समाप्त हो गया। पर कुछ ही समय में फिर बिना पर्याप्त धन-वैभव आदि साधनों के तुम अपने में अधूरापन अनुभव करने लगे। प्रभु कृपा से और तुम्हारे पुरुषार्थ से वह धन-वैभव भी खूब आ गया। फिर यह सब कुछ हो जाने पर भी बहुत जल्दी ही बिना सन्तान के तुम ने अपने में अधूरापन अनुभव किया .....। प्रभु ने कृपा करके सन्तान भी तुम्हें प्रदान कर दी तो तुम एक बार तो निहाल हो गये और अपने आप को सब प्रकार से भरा-पूरा अनुभव करने लगे, क्योंकि तब किसी भी प्रकार का अभाव तुम्हें खटका नहीं। इस प्रकार तुम सब प्रकार से अपने आप को भाग्यशाली-सौभाग्यशाली समझने लगे।

पर तुम्हें क्या पता था कि बहुत शीघ्र ही इस सब धन-वैभव स्वास्थ्य, सुख-सौभाग्य आदि की उल्टी गति आरम्भ हो जायेगी

और तुम पुनः अपने को अधूरा-अधूरा और अकेला-अकेला ही अनुभव करने लगोगे। धीरे-धीरे स्वास्थ्य शिथिल होने लगा, पुत्रियाँ पतियों को अपना-अपना कर शनैः शनैः घर से विदा होने लगीं, पुत्र पत्नियों के अभिमुख होते होते तुम से विमुख होने लगे। सभी तुम्हारे उसी धन-वैभव पर मखियों के समान मण्डराते-मण्डराते अपना-अपना भाग ले ले कर उड़ने लगे वा जो-जो हाथ लगा वह-वह ही उठा-उठा कर विदा होने लगे। अन्त में तुम अशक्तों को छोड़कर ये पत्नियाँ भी किसी न किसी समर्थ सन्तान के आश्रय में अपने दिन व्यतीत करने का सोचने लगीं और तुम्हें सदा-सदा के लिये विदाई देकर निवृत्त होने का विचार करने लगीं वा यदि कर्त्तव्य परायण नारियाँ हुयीं, सेवा-परायण स्त्रियाँ हुयीं तो तुम्हारी खाक के साथ खाक होने को हर प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करने लगीं ·· । पर यह सब कुछ होता हुआ जब तुम देखने लगे तो पत्नी वा किसी पुराने मित्र बन्धुओं आदि के लाख यह समझाने पर भी कि "हम तुम्हारे हैं, हमरा धन-वैभव सब तुम्हारा ही तो है··· " तो भी तुम्हें निरन्तर यही भासने लगा-जैसे कि तुम पुनः अकेले-अकेले से फिर रहने वाले हो, अधूरे के अधूरे से ही पुनः हो जाने वाले हो, अपूर्ण के अपूर्ण से ही फिर जल्दी हो जाने वाले हो, तथा पत्नी, पुत्र, मित्र, बन्धु, धन, वैभव आदि झिल-मिल, झिल-मिल करके तुम्हें निरन्तर सान्त्वना देते हुये भी तुम से प्रभात काल के तारों के समान तिरोहित से होने वाले हों। चाहते हुये भी उस समय तुम्हारा हृदय खड़ा नहीं हो पा रहा होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे तुम्हारे सम्मुख यह स्पष्ट होने लगता है और भीतर से तुम्हें सम्बोधित कर के यह मुखरित होने लगता है कि-"हे जीवो !

से मानवो ! तुम्हें ज्ञान और भान होना चाहिये कि तुम अस्थिर संसार रूप वृक्ष पर अति अस्थिर-अतिचंचल पर्ण तुल्य शरीर पर वास कर रहे हो, पर तुम अपने इस अति अस्थिर शरीर रूप पर्ण पर निवास कर के भी सदा यही समझते रहे, कि जैसे तुम इस संसार में सदा बने रहोगे। इसी विचार से तुम इस संसार में रहते हुये अपने को निरन्तर अकेला और अधूरा अनुभव करते रहे और तब तमने अपने आप को पूर्ण करने के लिये एक-एक करके जिन-जिन को इकठ्ठा किया था वे सब भी अस्थिर थे। अतः पुनः एक-एक करके वे सब सरकने लगे, विदा होने लगे। यदि तुम विचारशील और सावधान होते तो तुम अपने अधूरे पन को पूर्ण करने के लिये–अपने अकेले पन को सदा-सदा के लिये दूर करने के लिये उस सत्ता को अपनाते जो सदा सर्वत्र विद्यमान है, स्थिर है और टिकाऊ है। यदि तुम सच्चे हृदय से उसको अपनाते तो तब तुम्हारा अकेला पन, तुम्हारा अधूरापन सदा-सदा के लिये समाप्त हो जाता है और तुम सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर को पाकर पूर्ण हो जाते, सब प्रकार से तृप्त हो जाते। पर तुम तो इस क्षणभंगुर काया में रहकर भी इन भोगों से, इन विषयों से, वासनाओं से ही सदा अपने को पूर्ण करते रहे, पर भला इन से भी कभी कोई पूर्ण हुआ है, कभी कोई तृप्त हुआ है ! जीवन के इन अवशिष्ट क्षणों में भी यदि तुम जाग जाओ और इन सब से मुख मोड़ कर अन्तर्मुखी होकर यदि तुम अपने भीतर वर्तमान प्राणों से भी प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को निहारने लगो तो तुम निहाल हो जाओ, सब प्रकार से परितृप्त हो जाओ। तब तुम्हें उस समय ऐसा प्रतीत होगा कि–"ये सब पुत्र–कलत्र, बन्धु–बान्धव, परिचित, धन–वैभव आदि आयें तो भी

वाह–वाह और ये सब जायें तो भी वाह–वाह।" अर्थात् "यहाँ यूँ भी वाह–वाह है और वूँ भी वाह–वाह है।" क्योंकि वहाँ तुम ऐसी अनुपम सर्वत्र परिपूर्ण–सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सत्ता का आन्त–रिक स्पर्श पा रहे होगे जिस के कारण तुम्हें कभी अधूरापन और कभी अकेलापन अनुभव हो ही नहीं सकता। वहाँ तो उस का स्पर्श पाना उसका सान्निद्धय पाना, उस का अद्वितीय स्नेह पाना, उसका दिव्य प्यार पाना मानो सब कुछ पा लेना है, उसको जान लेना मानो सब कुछ जान लेना है, उसको पाना मानो सब प्रकार से अपने को परिपूर्ण कर लेना है। फिर किसी की कुछ परवाह नहीं, कोई आये या कोई जाये, अपना ही तन जाय वा विद्यमान रहे, क्योंकि वह तो अब उस सर्वव्यापक परम पुरुष को पाकर ऐसा पूर्ण हो चुका है कि अब उसकी अपूर्णता और अधूरे पन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यही जीवन की सच्ची साध है।

ओ३म्

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" द्वारा श्रद्धापूर्वक दान देने वाले महानुभावों के सहयोग से लेखक की प्रकाशित पुस्तकें—

सं०	नाम पुस्तक	प्र० सं०	द्वि०सं०	तृ०सं०
१.	प्रार्थना सुमन, भाग–१	११००	४०००	
२.	कौन चैन की नींद नहीं सो सकते और उसके उपाय	२०००	२०००	४०००
३.	वेद सुधा भाग–१	२०००	४०००	
४.	विदुर जी की दृष्टि में बुद्धिमान् कौन ?	२०००	४०००	
५.	महान् विदुर के महान् उपदेश भाग-१	२०००		
६.	प्रार्थना प्रदीप, भाग–१	२०००		
७.	प्रार्थना प्रसून, भाग–१	२०००		
८.	प्रार्थना सुमन, भाग-२	२०००		
९.	वेद सुधा, भाग–२	२०००	४०००	
१०.	विनय सुमन, भाग–१	२०००	४०००	
११.	विनय सुमन, भाग–२	२०००		
१२.	अनन्त की ओर	२०००	४०००	
१३.	वैदिक पुष्पाञ्जलि, भाग–१	२०००		
१४.	वैदिक पुष्पाञ्जलि भाग -२	२०००		
१५.	वैदिक गृस्थाश्रम (सुखी गृहस्थ)	३०००		
१६.	प्रभात वन्दन	३०००		
१७.	वेदोपदेश, भाग–१	४०००		
१८.	वैदिक रश्मियाँ, भाग–१	४०००		
१९.	शयन विनय	४०००		